सत्यार्थप्रकाशः

वेदादिविविधसच्छास्त्रप्रमाणसमन्वितः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्यश्रीम-

द्दयानन्दसरस्वतीस्वामिविरचितः

सर्वथा राजनियमे नियोजितः

आर्य्यवत्सर १९७२९४९०२७

अजमेरनगरे

वैदिक-यन्त्रालये मुद्रितः

दयानन्दजन्माब्द १०३

Registered under Sections 18 & 19
of Act XXV of 1867.

इकीसवीं वार
२००००

संवत् १९८४ वि०

मूल्य ॥०)

ओ३म् ॥

अथ सत्यार्थप्रकाशस्य सूचीपत्रम् ।

७ समुल्लासः ॥

८ समुल्लासः ॥

९ समुल्लासः ॥

१० समुल्लासः ॥

इति पूर्वार्द्धः ॥

उत्तरार्द्धः

इत्युत्तरार्द्धः ॥



ओ३म् सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः

भूमिका

जिस समय मैंने यह ग्रन्थ "सत्यार्थप्रकाश" बनाया था उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने, पठनपाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था, इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है। इसलिये इस ग्रन्थ को भाषाव्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है कहीं २ शब्द, वाक्य, रचना का भेद हुआ है सो करना उचित था क्योंकि इसके भेद किये विना भाषा की परिपाटी सुधरनी कठिन थी; परन्तु अर्थ का भेद नहीं किया गया है प्रत्युत विशेष तो लिखा गया है। हां जो प्रथम छपने मे कहीं २ भूल रही थी वह निकाल शोधकर ठीक २ करदी गई है॥

यह ग्रन्थ १४ (चौदह) समुल्लास अर्थात् चौदह विभागों मे रचा गया है। इस में १० (दश) समुल्लास पूर्वार्द्ध और ४ (चार) उत्तरार्द्ध में बने हैं, परन्तु अन्त्य के दो समुल्लास और पश्चात् स्वसिद्धान्त किसी कारण से प्रथम नहीं छप सके थे अब वे भी छपवा दिये हैं॥

(१) प्रथम समुल्लास में ईश्वर के ओंकारादि नामों की व्याख्या।

(२) द्वितीय समुल्लास में सन्तानों की शिक्षा।

(३) तृतीय समुल्लास में ब्रह्मचर्य्य, पठनपाठन व्यवस्था, सत्यासत्य ग्रन्थों के नाम और पढ़ने पढ़ाने की रीति।

(४) चतुर्थ समुल्लास में विवाह और गृहाश्रम का व्यवहार।

(५) पञ्चम समुल्लास में वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम की विधि।

(६) छठे समुल्लास में राजधर्म।

(७) सप्तम समुल्लास में वेदेश्वर विषय।

(८) अष्टम समुल्लास में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय।

(९) नवम समुल्लास में विद्या, अविद्या, बन्ध और मोक्ष की व्याख्या।

(१०) दशवें समुल्लास में आचार, अनाचार और भक्ष्याभक्ष्य विषय।

(११) एकादश समुल्लास में आर्य्यावर्त्तीय मतमतान्तर का खण्डन मण्डन विषय।

(१२) द्वादश समुल्लास में चार्वाक, बौद्ध और जैनमत का विषय।

(१३) त्रयोदश समुल्लास में ईसाईमत का विषय।

(१४) चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों के मत का विषय। और चौदह समुल्लासों के अन्त में आर्य्यों के सनातन वेदविहित मत की विशेषतः व्याख्या लिखी है, जिसको मैं भी यथावत् मानता हूं॥

मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य २ अर्थ का प्रकाश करना है अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाय। किन्तु जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना लिखना और मानना सत्य कहाता है। जो मनुष्य पक्षपाती होता है वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है इसलिये वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिये विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेखद्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित करदें, पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझकर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहैं। मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जाननेवाला है। तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है। परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रक्खी है और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि पर तात्पर्य है। किन्तु जिससे मनुष्यजाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को मनुष्य लोग जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें क्योंकि सत्योपदेश के विना अन्य कोई भी मनुष्यजाति की उन्नति का कारण नहीं है ॥

इस ग्रन्थ में जो कहीं २ भूल चूक से अथवा शोधने तथा छापने में भूल चूक रह जाय उसको जानने जनाने पर जैसा वह सत्य होगा वैसा ही कर दिया जायगा। और जो कोई पक्षपात से अन्यथा शंका वा खण्डन मण्डन करेगा उस पर ध्यान न दिया जायगा। हां जो वह मनुष्यमात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा उसको सत्य सत्य समझने पर उसका मत संगृहीत होगा। यद्यपि आजकल बहुतसे विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं वे पक्षपात छोड़ सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् जो २ बातें सब के अनुकूल सब में सत्य हैं उनका ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें हैं उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्त्ते वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे। क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर अनेकविध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है। इस हानि ने, जोकि स्वार्थी मनुष्यों को प्रिय है, सब मनुष्यों को दुःखसागर में डुबा दिया है। इनमें से जो कोई सार्वजनिक हित लक्ष्य में धर प्रवृत्त होता है उससे स्वार्थी लोग विरोध करने में तत्पर होकर अनेक प्रकार विघ्न करते हैं। परन्तु "सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः" अर्थात् सर्वदा सत्य का विजय और असत्य का पराजय और सत्य ही से विद्वानों का मार्ग विस्तृत होता है, इस दृढ़ निश्चय के आलम्बन से आप्त लोग परोपकार करने से उदासीन होकर कभी सत्यार्थप्रकाश करने से नहीं हटते। यह बड़ा दृढ़ निश्चय है कि "यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्" यह गीता का वचन है इसका अभिप्राय यह है कि जो २ विद्या और धर्मप्राप्ति के कर्म हैं वे प्रथम करने में विष के तुल्य और पश्चात् अमृत के सदृश होते हैं। ऐसी बातों को चित्त में धर के मैंने इस ग्रन्थ को रचा है। श्रोता वा पाठकगण भी प्रथम प्रेम से देख के इस ग्रन्थ का सत्य २ तात्पर्य जानकर यथेष्ट करें। इसमें यह अभिप्राय रक्खा गया है कि जो जो सब मतों में सत्य २ बातें हैं वे २ सब में अविरुद्ध होने से उनका स्वीकार करके जो २ मतमतान्तरों में मिथ्या बातें हैं उन २ का खण्डन किया है। इसमें यह भी अभिप्राय रक्खा है कि जब मतमतान्तरों की गुप्त वा प्रकट बुरी बातों का प्रकाश कर विद्वान् अविद्वान् सब साधारण मनुष्यों के सामने रक्खा है, जिससे सब से सब का विचार होकर परस्पर प्रेमी हो के एक सत्य मतस्थ होवें। यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूं तथापि जैसे इस देश के मतमतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर याथातथ्य प्रकाश करता हूं वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मतोन्नतिवालों के साथ भी वर्त्तता हूं जैसा स्वदे

शवालों के साथ मनुष्योन्नति के विषय में वर्त्तता हूं वैसा विदेशियों के साथ भी तथा सब सज्जनों को भी वर्त्तना योग्य है। क्योंकि मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आजकल के स्वमत की स्तुति, मण्डन और प्रचार करते और दूसरे मत की निन्दा, हानि और बन्द करने में तत्पर होते हैं वैसे मैं भी होता, परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन से बाहर हैं। क्योंकि जैसे पशु बलवान् होकर निर्बलों को दुःख देते और मार भी डालते हैं। जब मनुष्य शरीर पाके वैसा ही कर्म करते हैं तो वे मनुष्यस्वभावयुक्त नहीं किन्तु पशुवत् हैं। और जो बलवान् होकर निर्बलों की रक्षा करता है वही मनुष्य कहाता है और जो स्वार्थवश होकर परहानिमात्र करता रहता है वह जानों पशुओं का भी बड़ा भाई है। अब आर्यावर्त्तियों के विषय में विशेषकर ११ ग्यारहवे समुल्लास तक लिखा है। इन समुल्लासों में जो कि सत्यमत प्रकाशित किया है वह वेदोक्त होने से मुझ को सर्वथा मन्तव्य है। और जो नवीन पुराण तन्त्रादि ग्रन्थोक्त बातों का खण्डन किया है वे त्यक्तव्य हैं। जो १२ बारहवें समुल्लास में दर्शाया चार्वाक का मत यद्यपि इस समय क्षीणास्तसा है और यह चार्वाक बौद्ध जैन से बहुत सम्बन्ध अनीश्वरवादादि में रखता है। यह चार्वाक सब से बड़ा नास्तिक है। उसकी चेष्टा का रोकना अवश्य है। क्योंकि जो मिथ्या बात न रोकी जाय तो संसार में बहुत से अनर्थ प्रवृत्त हो जायें। चार्वाक का जो मत है वह तथा बौद्ध और जैन का जो मत है वह भी १२ वें समुल्लास में संक्षेप से लिखा गया है। और बौद्धों तथा जैनियों का भी चार्वाक के मत के साथ मेल है और कुछ थोड़ासा विरोध भी है। और जैन भी बहुतसे अंशों में चार्वाक और बौद्धों के साथ मेल रखता है और थोड़ीसी बातों में भेद है। इसलिये जैनों की भिन्न शाखा गिनी जाती है। यह भेद १२ बारहवें समुल्लास में लिख दिया है यथायोग्य वहीं समझ लेना। जो इसका भेद है सो २ बारहवें समुल्लास मे दिखलाया है बौद्ध और जैन मत का विषय भी लिखा है। इनमें से बौद्धों के दीपवंशादि प्राचीन ग्रन्थों में बौद्धमतसंग्रह सर्वदर्शनसंग्रह में दिखलाया है उसमें से यहां लिखा है और जैनियों के निम्नलिखित सिद्धान्तों के पुस्तक हैं उनमें से चार मूल सूत्र, जैसे—१ आवश्यकसूत्र, २ विशेष आवश्यकसूत्र, ३ दशवैकालिकसूत्र और ४ पाक्षिकसूत्र ॥ ११ (ग्यारह) अङ्ग, जैसे—१ आचारांगसूत्र, २ सुगडांगसूत्र, ३ थाणांगसूत्र, ४ समवायांगसूत्र, ५ भगवतीसूत्र, ६ ज्ञाताधर्मकथासूत्र, ७ उपासकदशासूत्र, ८ अन्तगड़दशासूत्र, ९ अनुत्तरोववाईसूत्र, १० विपाकसूत्र, ११ प्रश्नव्याकरणसूत्र ॥ १२ (बारह) उपांग, जैसे—१ उपवाईसूत्र, २ रायपसेनीसूत्र, ३ जीवाभिगमसूत्र, ४ पन्नवणासूत्र, ५ जंबुद्वीपपन्नतीसूत्र, ६ चन्दपन्नतीसूत्र, ७ सूरपन्नतीसूत्र, ८ निरियावलीसूत्र, ९ कप्पियासूत्र, १० कपवड़ीसयासूत्र, ११ पूप्फियासूत्र और १२ पुप्फचूलियासूत्र ॥ ५ कल्पसूत्र, जैसे—१ उत्तराध्ययनसूत्र, २ निशीथसूत्र, ३ कल्पसूत्र, ४ व्यवहारसूत्र और ५ जीतकल्पसूत्र ॥ छः छेद, जैसे—१ महानिशीथबृहद्वाचनासूत्र, २ महानिशीथलघुवाचनासूत्र, ३ मध्यमवाचनासूत्र, ४ पिंडनिरुक्तिसूत्र, ५ ओघनिरुक्तिसूत्र, ६ पर्य्यूषणासूत्र ॥ १० (दश) पयन्नासूत्र, जैसे—१ चतुस्सरणसूत्र, २ पचखाणसूत्र, ३ तंदुलवैयालिकसूत्र, ४ भक्तिपरिज्ञानसूत्र, ५ महाप्रत्याख्यानसूत्र, ६ चंदाविजयसूत्र, ७ गणीविजयसूत्र, ८ मरणसमाधिसूत्र, ९ देवेन्द्रस्तमनसूत्र और १० संसारसूत्र तथा नन्दीसूत्र योगोद्धारसूत्र भी प्रामाणिक मानते हैं ॥ ५ पञ्चाङ्ग, जैसे—१ पूर्व सब ग्रन्थों की टीका, २ निरुक्ति, ३ चरणी, ४ भाष्य, ये चार अवयव और सब मूल मिलके पंचांग कहाते हैं, इनमें ढूंढिया अवयवों को नहीं मानते और इनसे भिन्न भी अनेक ग्रन्थ हैं कि जिनको जैनी लोग मानते हैं। इनके मत पर विशेष विचार १२ (बारहवें) समुल्लास मे देख लीजिये। जैनियों के ग्रन्थों में लाखों पुनरुक्त दोष हैं। और इनका यह भी स्वभाव है कि जो अपना ग्रन्थ दूसरे मत वाले के हाथ में हो वा छपा हो तो कोई २ उस ग्रन्थ को अप्रमाण कहते हैं। यह बात उनकी है क्योंकि जिसको कोई माने कोई नहीं इससे वह ग्रन्थ जैनमत से बाहर नहीं हो सकता। हां!

कोई न माने और न कभी किसी जैनी ने माना हो तब तो अग्राह्य हो सकता है। परन्तु ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं है कि जिसको कोई भी जैनी न मानता हो इसलिये जो जिस ग्रन्थ को मानता होगा उस ग्रन्थस्थ विषयक खण्डन मण्डन भी उसी के लिये समझा जाता है। परन्तु कितने ही ऐसे भी हैं कि उस ग्रन्थ को मानते जानते हों तो भी सभा वा संवाद में बदल जाते हैं इसी हेतु से जैन लोग अपने ग्रन्थों को छिपा रखते हैं। और दूसरे मतस्थ को न देते न सुनाते और न पढ़ाते इसलिये कि उनमें ऐसी २ असम्भव बातें भरी हैं जिनका कोई भी उत्तर जैनियों में से नहीं दे सकता। झूठ बातको छोड़ देना ही उत्तर है ॥

१३ वें समुल्लास में ईसाइयों का मत लिखा है। ये लोग बायबिल को अपना धर्मपुस्तक मानते हैं। इनका विशेष समाचार उसी १३ तेरहवें समुल्लास में देखिये। और १४ चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों के मत विषय में लिखा है ये लोग कुरान को अपने मत का मूलपुस्तक मानते हैं। इन का भी विशेष व्यवहार १४ वे समुल्लास में देखिये। और इसके आगे वैदिक मत के विषय में लिखा है। जो कोई इसे ग्रन्थकर्त्ता के तात्पर्य से विरुद्ध मनसा से देखेगा उसको कुछ भी अभिप्राय विदित न होगा। क्योंकि वाक्यार्थबोध मे चार कारण होते हैं, आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य। जब इन चारों बातें पर ध्यान देकर जो पुरुष ग्रन्थ को देखता है तब उसको ग्रन्थ का अभिप्राय यथायोग्य विदित होता है "आकाङ्क्षा" किसी विषय पर वक्ता की और वाक्यस्थपदो की आकांक्षा परस्पर होती है। "योग्यता वह कहाती है कि जिससे जो होसके जैसे जल से सींचना। "आसत्ति" जिस पद के साथ जिसव सम्बन्ध हो उसी के समीप उस पद को बोलना वा लिखना। "तात्पर्य" जिसके लिये वक्ता ने शब्दे च्चारण वा लेख किया हो उसी के साथ उस वचन वा लेख को युक्त करना। बहुतसे हठी दुराग्रह मनुष्य होते हैं कि जो वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध कल्पना किया करते हैं, विशेपकर मत वाले लोग क्योंकि मत के आग्रह से उनकी बुद्धि अन्धकार मे फंस के नष्ट हो जाती है। इसलिये जैसा मैं पुराए जैनियों के ग्रन्थ, बायबिल और कुरान को प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देखकर उनमे से गुणो का ग्रहर और दोषों का त्याग तथा अन्य मनुष्यजाति की उन्नति के लिये प्रयत्न करता हूं, वैसा सब को करन योग्य है। इन मतो के थोड़े २ ही दोष प्रकाशित किये हैं जिनको देखकर मनुष्य लोग सत्यासत्य मत का निर्णय कर सकें और सत्य का ग्रहण तथा असत्य का त्याग करने कराने में समर्थ होवें। क्योंवि एक मनुष्यजाति मे बहका कर, विरुद्ध बुद्धि कराके, एक दूसरे को शत्रु बना, लड़ा मारना विद्वानों व स्वभाव से वहिः है। यद्यपि इस ग्रन्थ को देखकर अविद्वान् लोग अन्यथा ही विचारेंगे तथापि बुद्धिमा लोग यथायोग्य इसका अभिप्राय समझेंगे। इसलिये मैं अपने परिश्रम को सफल समझता और अपन अभिप्राय सब सज्जनो के सामने धरता हूं। इसको देख दिखला के मेरे श्रम को सफल करें। और इस प्रकार पक्षपात न करके सत्यार्थ का प्रकाश करना मेरा वा सब महाशयो का मुख्य कर्त्तव्य काम है सर्वात्मा सर्वान्तर्यामी सच्चिदानन्द परमात्मा अपनी कृपा से इस आशय को विस्तृत और चिरस्थायी करे

॥ अलमति विस्तरेण बुद्धिमद्वरशिरोमणिषु ॥

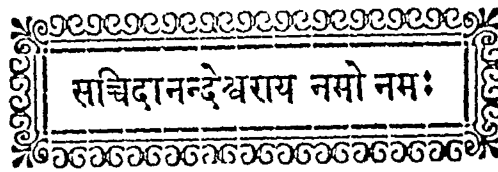
॥ इति भूमिका ॥



स्थान महाराणाजी का उदयपुर,
भाद्रपद शुक्लपक्ष संवत् १९३९

(स्वामी) दयानन्दसरस्वती.

॥ ओ३म् ॥



अथ सत्यार्थप्रकाशः

अथ प्रथमसमुल्लासः

ओम् शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्य्यमा । शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारम् ॥ ओ३म् शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ॥ १ ॥

अर्थ—(ओ३म्) यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है क्योंकि इसमें जो अ, उ और म् तीन अक्षर मिलकर एक (ओम्) समुदाय हुआ है। इस एक नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आते हैं, जैसे-अकार से विराट्, अग्नि और विश्वादि। उकार से हिरण्यगर्भ, वायु और तैजसादि। मकार से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक है। उसका ऐसा ही वेदादि सत्यशास्त्रों में स्पष्ट व्याख्यान किया है कि प्रकरणानुकूल ये सब नाम परमेश्वर ही के हैं। (प्रश्न) परमेश्वर से भिन्न अर्थों के वाचक विराट् आदि नाम क्यों नहीं? ब्रह्माण्ड, पृथिवी आदि भूत, इन्द्रादि देवता और वैद्यकशास्त्र में शुण्ठ्यादि ओषधियों के भी ये नाम हैं वा नहीं? (उत्तर) हैं, परन्तु परमात्मा के भी हैं। (प्रश्न) केवल देवों का ग्रहण इन नामों से करते हो वा नहीं? (उत्तर) आपके ग्रहण करने में क्या प्रमाण है? (प्रश्न) देव सब प्रसिद्ध और वे उत्तम भी हैं इससे मैं उनका ग्रहण करता हूं। (उत्तर) क्या परमेश्वर अप्रसिद्ध और उससे कोई उत्तम भी है? पुनः ये नाम परमेश्वर के भी क्यों नहीं मानते? जब परमेश्वर अप्रसिद्ध और उसके तुल्य भी कोई नहीं तो उससे उत्तम कोई क्योंकर हो सकेगा, इससे आपका यह कहना सत्य नहीं। क्योंकि आपके इस कहने में बहुतसे दोष भी आते हैं जैसे—"उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितं याचत इति बाधितन्यायः" किसी ने किसी के लिये भोजन का पदार्थ रख के कहा कि आप भोजन कीजिये और वह जो उसको छोड़ के अप्राप्त भोजन के लिये जहां तहां भ्रमण करे। उसको बुद्धिमान् न जानना चाहिये क्योंकि वह उपस्थित नाम समीप प्राप्त हुए पदार्थ को छोड़ के अनुपस्थित अर्थात् अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति के लिये श्रम करता है। इसलिये जैसा वह पुरुष बुद्धिमान् नहीं वैसा ही आपका कथन हुआ। क्योंकि आप उन विराट् आदि नामों के जो प्रसिद्ध प्रमाणसिद्ध परमेश्वर और ब्रह्माण्डादि उपस्थित अर्थों का परित्याग करके असम्भव और अनुपस्थित

देवादि के ग्रहण में श्रम करते हैं। इसमें कोई भी प्रमाण वा युक्ति नहीं। जो आप ऐसा कहें कि जहां जिसका प्रकरण है वहां उसी का ग्रहण करना योग्य है, जैसे किसी ने किसी से कहा कि "हे भृत्य! त्वं सैन्धवमानय" अर्थात् तू सैन्धव को ले आ, तब उसको समय अर्थात् प्रकरण का विचार करना अवश्य है क्योंकि सैन्धव नाम दो पदार्थों का है एक घोड़े और दूसरे लवण का। जो स्वस्वामी का गमनसमय हो तो घोड़े और भोजनकाल हो तो लवण को ले आना उचित है। और जो गमनसमय में लवण और भोजनसमय मे घोड़े को ले आवे तो उसका स्वामी उस पर क्रुद्ध होकर कहेगा कि तू निर्बुद्धि पुरुष है। गमनसमय मे लवण और भोजनकाल में घोड़े के लाने का क्या प्रयोजन था? तू प्रकरणवित् नहीं है नहीं तो जिस समय मे जिसको लाना चाहिये था उसी को लाता। जो तुझ को प्रकरण का विचार करना आवश्यक था वह तूने नहीं किया, इससे तू मूर्ख है, मेरे पास से चला जा। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जहां जिसका ग्रहण करना उचित हो वहां उसी अर्थ का ग्रहण करना चाहिये तो ऐसा ही हम और आप सब लोगों को मानना और करना भी चाहिये॥

अथ मन्त्रार्थः

ओ३म् खम्ब्रह्म ॥ १ ॥ यजुः अ० ४० । मं० १७ ॥

देखिये वेदों मे ऐसे २ प्रकरणों में 'ओम्' आदि परमेश्वर के नाम हैं।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ॥ २ ॥ छान्दोग्य उपनिषत् [मं० १]

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानम् ॥ ३ ॥ माण्डूक्य [मं० १]

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ ४ ॥ कठोपनिषदि [वल्ली २ । मं० १५]

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि। रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥ ५ ॥
एतमग्निं वदन्त्येके मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ६ ॥
मनु० अ० १२ [श्लो० १२२ । १२३]

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट्। स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः ॥ ७ ॥ कैवल्य उपनिषत् ॥ इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ ८ ॥ ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मं० ४६ ॥

भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री। पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृꣳह पृथिवीं मा हिꣳसीः ॥ ९ ॥ यजुः अ० १३ । मं० १८ ॥

इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्य्यमरोचयत्। इन्द्रेह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे स्वानास इन्दवः ॥ १० ॥ सामवेद प्रपा० ६ । त्रिक ८ । मं० २ ॥

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ११ ॥ अथर्ववेदे काण्ड ११ । अ० २ । सू० ४ । मं० १ ॥

अर्थ—यहां इन प्रमाणों के लिखने में तात्पर्य यही है कि जो ऐसे २ प्रमाणों में ओंकारादि नामों से परमात्मा का ग्रहण होता है यह लिख आये। तथा परमेश्वर का कोई भी नाम अनर्थक नहीं। जैसे लोक में दरिद्री आदि के धनपति आदि नाम होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि कहीं गौणिक, कहीं कार्मिक और कहीं स्वाभाविक अर्थों के वाचक हैं। "ओम्" आदि नाम सार्थक हैं जैसे (ओं खं०) "अवतीत्योम्, आकाशमिव व्यापकत्वात् खम्, सर्वेभ्यो बृहत्वाद् ब्रह्म" रक्षा करने से (ओ३म्) आकाशवत् व्यापक होने से (खम्) और सब से बड़ा होने से (ब्रह्म) ईश्वर का नाम है ॥ १ ॥ (ओमित्येत०) (ओ३म्) जिसका नाम है और जो कभी नष्ट नहीं होता उसी की उपासना करनी योग्य है अन्य की नहीं ॥ २ ॥ (ओमित्येत०) सब वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर का प्रधान और निज नाम (ओ३म्) को कहा है अन्य सब गौणिक नाम हैं ॥ ३ ॥ (सर्वे वेदा०) क्योंकि सब वेद सब धर्मानुष्ठानरूप तपश्चरण जिसका कथन और मान्य करते और जिसकी प्राप्ति की इच्छा करके ब्रह्मचर्याश्रम करते हैं उसका नाम "ओ३म्" है ॥ ४ ॥

(प्रशासिता०) जो सब को शिक्षा देनेहारा, सूक्ष्म से सूक्ष्म, स्वप्रकाशस्वरूप, समाधिस्थ बुद्धि से जानने योग्य है, उसको परमपुरुष जानना चाहिये ॥ ५ ॥ और स्वप्रकाश होने से "अग्नि" विज्ञानस्वरूप होने से "मनु" सब का पालन करने से "प्रजापति" और परमैश्वर्य्यवान् होने से "इन्द्र" सब का जीवनमूल होने से "प्राण" और निरन्तर व्यापक होने से परमेश्वर का नाम "ब्रह्म" है ॥ ६ ॥ (स ब्रह्मा स विष्णुः०) सब जगत् के बनाने से "ब्रह्मा" सर्वत्र व्यापक होने से "विष्णु" दुष्टों को दण्ड देके रुलाने से "रुद्र" मङ्गलमय और सब का कल्याणकर्त्ता होने से "शिव" "यः सर्वमश्नुते न क्षरति न विनश्यति तदक्षरम्" ॥ १ ॥ "यः स्वयं राजते स स्वराट्" ॥ २ ॥ "योऽग्निरिव कालः कलयिता प्रलयकर्त्ता स कालाग्निरीश्वरः" ॥ ३ ॥ (अक्षर) जो सर्वत्र व्याप्त अविनाशी (स्वराट्) स्वयं प्रकाशस्वरूप और (कालाग्नि०) प्रलय में सब का काल और काल का भी काल है इसलिये परमेश्वर का नाम कालाग्नि है ॥ ७ ॥ (इन्द्रं मित्रं) जो एक अद्वितीय सत्यब्रह्म वस्तु है उसी के इन्द्रादि सब नाम हैं। "द्युषु शुद्धेषु पदार्थेषु भवो दिव्यः" "शोभनानि पर्णानि पालनानि पूर्णानि कर्माणि वा यस्य सः" "यो गुर्वात्मा स गरुत्मान्" "यो मातरिश्वा वायुरिव बलवान् स मातरिश्वा" (दिव्य) जो प्रकृत्यादि दिव्य पदार्थों में व्याप्त (सुपर्ण) जिसके उत्तम पालन और पूर्ण कर्म हैं (गरुत्मान्) जिसका आत्मा अर्थात् स्वरूप महान् है (मातरिश्वा) जो वायु के समान अनन्त बलवान् है इसलिये परमात्मा के दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान् और मातरिश्वा ये नाम हैं। शेष नामों का अर्थ आगे लिखेंगे ॥ ८ ॥ (भूमिरसि०) "भवन्ति भूतानि यस्यां सा भूमिः" जिसमें सब भूत प्राणी होते हैं इसलिये ईश्वर का नाम "भूमि" है। शेष नामों का अर्थ आगे लिखेंगे ॥ ९ ॥ (इन्द्रो मह्ना०) इस मन्त्र में इन्द्र परमेश्वर ही का नाम है इसलिये यह प्रमाण लिखा है ॥ १० ॥ (प्राणाय) जैसे प्राण के वश सब शरीर और इन्द्रियां होती हैं वैसे परमेश्वर के वश में सब जगत् रहता है ॥ ११ ॥ इत्यादि प्रमाणों के ठीक २ अर्थों के जानने से इन नामों करके परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। क्योंकि ओ३म् और अग्न्यादि नामों के मुख्य अर्थ से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। जैसा कि व्याकरण, निरुक्त, ब्राह्मण, सूत्रादि ऋषि मुनियों के व्याख्यानों से परमेश्वर का ग्रहण देखने में आता है वैसा ग्रहण करना सब को योग्य है परन्तु "ओ३म्" यह तो केवल परमात्मा ही का नाम है और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियमकारक हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जहां २ स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं वहीं वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है और जहां २ ऐसे प्रकरण हैं कि:—

तद्धित करने से "तैजस" शब्द सिद्ध होता है। जो आप स्वयंप्रकाश और सूर्यादि तेजस्वी लोकों का प्रकाश करनेवाला है इससे उस ईश्वर का नाम "तैजस" है। इत्यादि नामार्थ उकारमात्र से ग्रहण होते हैं। (ईश ऐश्वर्ये) इस धातु से "ईश्वर" शब्द सिद्ध होता है। "य ईष्टे सर्वैश्वर्यवान् वर्त्तते स ईश्वरः" जिसका सत्य विचारशील ज्ञान और अनन्त ऐश्वर्य है इससे उस परमात्मा का नाम "ईश्वर" है। (दो अवखण्डने) इस धातु से "अदिति" और इससे तद्धित करने से "आदित्य" शब्द सिद्ध होता है। "न विद्यते विनाशो यस्य सोऽयमदितिः + अदितिरेव आदित्यः" जिसका विनाश कभी न हो उसी ईश्वर की "आदित्य" संज्ञा है। (ज्ञा अवबोधने) "प्र" पूर्वक इस धातु से "प्रज्ञ" और इससे तद्धित करने से "प्राज्ञ" शब्द सिद्ध होता है। "यः प्रकृष्टतया चराऽचरस्य जगतो व्यवहारं जानाति स प्रज्ञः+प्रज्ञ एव प्राज्ञः" जो निर्भ्रान्त ज्ञानयुक्त सब चराचर जगत् के व्यवहार को यथावत् जानता है इससे ईश्वर का नाम "प्राज्ञ" है। इत्यादि नामार्थ मकार से गृहीत होते हैं। जैसे एक २ मात्रा से तीन २ अर्थ यहां व्याख्यात किये हैं वैसे ही अन्य नामार्थ भी ओंकार से जाने जाते हैं। जो (शन्नो मित्रः शं व०) इस मन्त्र में मित्रादि नाम हैं वे भी परमेश्वर के हैं क्योंकि स्तुति, प्रार्थना, उपासना श्रेष्ठ ही की की जाती है। श्रेष्ठ उसको कहते हैं जो गुण, कर्म, स्वभाव और सत्य सत्य व्यवहारों में सब से अधिक हो। उन सब श्रेष्ठों में भी जो अत्यन्त श्रेष्ठ उसको परमेश्वर कहते हैं। जिसके तुल्य कोई न हुआ, न है और न होगा। जब तुल्य नहीं तो उससे अधिक क्योंकर हो सकता है? जैसे परमेश्वर के सत्य न्याय, दया, सर्वसामर्थ्य और सर्वज्ञत्वादि अनन्त गुण हैं वैसे अन्य किसी जड़ पदार्थ वा जीव के नहीं हैं। जो पदार्थ सत्य है उसके गुण कर्म स्वभाव भी सत्य होते हैं इसलिये मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करें, उससे भिन्न की कभी न करें क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव नामक पूर्वज महाशय विद्वान्, दैत्य दानवादि निकृष्ट मनुष्य और अन्य साधारण मनुष्यों ने भी परमेश्वर ही में विश्वास करके उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करी, उससे भिन्न की नहीं की। वैसे हम सब को करना योग्य है। इसका विशेष विचार मुक्ति और उपासना विषय में किया जायगा।

(प्रश्न) मित्रादि नामों से सखा और इन्द्रादि देवों के प्रसिद्ध व्यवहार देखने से उन्हीं का ग्रहण करना चाहिये। (उत्तर) यहां उनका ग्रहण करना योग्य नहीं क्योंकि जो मनुष्य किसी का मित्र है वही अन्य का शत्रु और किसी से उदासीन भी देखने में आता है। इससे मुख्यार्थ में सखा आदि का ग्रहण नहीं हो सकता। किन्तु जैसा परमेश्वर सब जगत् का निश्चित मित्र, न किसी का शत्रु और न किसी से उदासीन है, इससे भिन्न कोई भी जीव इस प्रकार का कभी नहीं हो सकता। इसलिये परमात्मा ही का ग्रहण यहां होता है। हां! गौण अर्थ में मित्रादि शब्द से सुहृदादि मनुष्यों का ग्रहण होता है। (ञिमिदा स्नेहने) इस धातु से औणादिक "क्त्र" प्रत्यय के होने से "मित्र" शब्द सिद्ध होता है। "मेद्यति स्निह्यति स्निह्यते वा स मित्रः" जो सब से स्नेह करके और सब को प्रीति करने योग्य है इससे उस परमेश्वर का नाम मित्र है (वृञ् वरणे, वर ईप्सायाम्) इन धातुओं से उणादि "उनन्" प्रत्यय होने से "वरुण" शब्द सिद्ध होता है। "यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून्धर्मात्मनो वृणोत्यथवा यः शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभिर्व्रियते वर्य्यते वा स वरुणः परमेश्वरः" जो आत्मयोगी, विद्वान्, मुक्ति की इच्छा करने वाले मुक्त और धर्मात्माओं का स्वीकार करता, अथवा जो शिष्ट, मुमुक्षु, मुक्त और धर्मात्माओं से ग्रहण किया जाता है वह ईश्वर "वरुण" संज्ञक है। अथवा "वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः" जिसलिये परमेश्वर सब से श्रेष्ठ है, इसीलिये उसका नाम "वरुण" है। (ऋ गतिप्रापणयोः) इस धातु से "यत्" प्रत्यय करने से "अर्य्य" शब्द सिद्ध होता है और "अर्य्य" पूर्वक (माङ् माने) इस धातु से "कनिन्" प्रत्यय होने से "अर्यमा" शब्द सिद्ध होता है। "योऽर्य्यान् स्वामिनो न्यायाधीशान् मिमीते मान्यान्

तद्धित करने से "तैजस" शब्द सिद्ध होता है। जो आप स्वयंप्रकाश और सूर्य्यादि तेजस्वी लोकों का प्रकाश करनेवाला है इससे उस ईश्वर का नाम "तैजस" है। इत्यादि नामार्थ उकारमात्र से ग्रहण होते हैं। (ईश ऐश्वर्ये) इस धातु से "ईश्वर" शब्द सिद्ध होता है। "य ईष्टे सर्वैश्वर्यवान् वर्त्तते स ईश्वरः" जिसका सत्य विचारशील ज्ञान और अनन्त ऐश्वर्य है इससे उस परमात्मा का नाम "ईश्वर" है। (दो अवखण्डने) इस धातु से "अदिति" और इससे तद्धित करने से "आदित्य" शब्द सिद्ध होता है। "न विद्यते विनाशो यस्य सोऽयमदितिः, अदितिरेव आदित्यः" जिसका विनाश कभी न हो उसी ईश्वर की "आदित्य" संज्ञा है। (ज्ञा अवबोधने) "प्र" पूर्वक इस धातु से "प्रज्ञ" और इससे तद्धित करने से "प्राज्ञ" शब्द सिद्ध होता है। "यः प्रकृष्टतया चराऽचरस्य जगतो व्यवहारं जानाति स प्रज्ञः, प्रज्ञ एव प्राज्ञः" जो निर्भ्रान्त ज्ञानयुक्त सब चराऽचर जगत् के व्यवहार को यथावत् जानता है इससे ईश्वर का नाम "प्राज्ञ" है। इत्यादि नामार्थ मकार से गृहीत होते हैं। जैसे एक २ मात्रा से तीन २ अर्थ यहां व्याख्यात किये हैं वैसे ही अन्य नामार्थ भी ओंकार से जाने जाते हैं। जो (शन्नो मित्रः शं व०) इस मन्त्र में मित्रादि नाम हैं वे भी परमेश्वर के हैं क्योंकि स्तुति, प्रार्थना, उपासना श्रेष्ठ ही की की जाती है। श्रेष्ठ उसको कहते हैं जो गुण, कर्म, स्वभाव और सत्य सत्य व्यवहारों में सब से अधिक हो। उन सब श्रेष्ठों में भी जो अत्यन्त श्रेष्ठ उसको परमेश्वर कहते हैं। जिसके तुल्य कोई न हुआ, न है और न होगा। जब तुल्य नहीं तो उससे अधिक क्योंकर हो सकता है? जैसे परमेश्वर के सत्य न्याय, दया, सर्वसामर्थ्य और सर्वज्ञत्वादि अनन्त गुण हैं वैसे अन्य किसी जड़ पदार्थ वा जीव के नहीं हैं। जो पदार्थ सत्य है उसके गुण कर्म स्वभाव भी सत्य होते हैं इसलिये मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करें, उससे भिन्न की कभी न करें क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव नामक पूर्वज महाशय विद्वान्, दैत्य दानवादि निकृष्ट मनुष्य और अन्य साधारण मनुष्यों ने भी परमेश्वर ही में विश्वास करके उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करी, उससे भिन्न की नहीं की। वैसे हम सब को करना योग्य है। इसका विशेष विचार मुक्ति और उपासना विषय में किया जायगा।

(प्रश्न) मित्रादि नामों से सखा और इन्द्रादि देवों के प्रसिद्ध व्यवहार देखने से उन्हीं का ग्रहण करना चाहिये। (उत्तर) यहां उनका ग्रहण करना योग्य नहीं क्योंकि जो मनुष्य किसी का मित्र है वही अन्य का शत्रु और किसी से उदासीन भी देखने में आता है। इससे मुख्यार्थ में सखा आदि का ग्रहण नहीं हो सकता। किन्तु जैसा परमेश्वर सब जगत् का निश्चित मित्र, न किसी का शत्रु और न किसी से उदासीन है, इससे भिन्न कोई भी जीव इस प्रकार का कभी नहीं हो सकता। इसलिये परमात्मा ही का ग्रहण यहां होता है। हां ! गौण अर्थ में मित्रादि शब्द से सुहृदादि मनुष्यों का ग्रहण होता है। (ञिमिदा स्नेहने) इस धातु से औणादिक "क्त" प्रत्यय के होने से "मित्र" शब्द सिद्ध होता है। "मेद्यति स्निह्यति स्निह्यते वा स मित्रः" जो सब से स्नेह करके और सब को प्रीति करने योग्य है इससे उस परमेश्वर का नाम मित्र है (वृञ् वरणे, वर ईप्सायाम्) इन धातुओं से उणादि "उनन्" प्रत्यय होने से "वरुण" शब्द सिद्ध होता है। "यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून्धर्मात्मनो वृणोत्यथवा यः शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभिर्व्रियते वर्य्यते वा स वरुणः परमेश्वरः" जो आत्मयोगी, विद्वान्, मुक्ति की इच्छा करने वाले मुक्त और धर्मात्माओं का स्वीकार करता, अथवा जो शिष्ट, मुमुक्षु, मुक्त और धर्मात्माओं से ग्रहण किया जाता है वह ईश्वर "वरुण" संज्ञक है। अथवा "वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः" जिसलिये परमेश्वर सब से श्रेष्ठ है, इसीलिये उसका नाम "वरुण" है। (ऋ गतिप्रापणयोः) इस धातु से "यत्" प्रत्यय करने से "अर्य्य" शब्द सिद्ध होता है और "अर्य्य" पूर्वक (माङ् माने) इस धातु से "कनिन्" प्रत्यय होने से "अर्यमा" शब्द सिद्ध होता है। "योऽर्य्यान् स्वामिनो न्यायाधीशान् मिमीते मान्यान्

तद्धित करने से "तैजस" शब्द सिद्ध होता है। जो आप स्वयंप्रकाश और सूर्य्यादि तेजस्वी लोकों का प्रकाश करनेवाला है इससे उस ईश्वर का नाम "तैजस" है। इत्यादि नामार्थ उकारमात्र से ग्रहण होते हैं। (ईश ऐश्वर्य्ये) इस धातु से "ईश्वर" शब्द सिद्ध होता है। "य ईष्टे सर्वैश्वर्य्यवान् वर्त्तते स ईश्वरः" जिसका सत्य विचारशील ज्ञान और अनन्त ऐश्वर्य है इससे उस परमात्मा का नाम "ईश्वर" है। (दो अवखण्डने) इस धातु से "अदिति" और इससे तद्धित करने से "आदित्य" शब्द सिद्ध होता है। "न विद्यते विनाशो यस्य सोऽयमदितिः + अदितिरेव आदित्यः" जिसका विनाश कभी न हो उसी ईश्वर की "आदित्य" संज्ञा है। (ज्ञा अवबोधने) "प्र" पूर्वक इस धातु से "प्रज्ञ" और इससे तद्धित करने से "प्राज्ञ" शब्द सिद्ध होता है। "यः प्रकृष्टतया चराऽचरस्य जगतो व्यवहारं जानाति स प्रज्ञः+प्रज्ञ एव प्राज्ञः" जो निर्भ्रान्त ज्ञानयुक्त सब चराऽचर जगत् के व्यवहार को यथावत् जानता है इससे ईश्वर का नाम "प्राज्ञ" है। इत्यादि नामार्थ मकार से गृहीत होते हैं। जैसे एक २ मात्रा से तीन २ अर्थ यहां व्याख्यात किये हैं वैसे ही अन्य नामार्थ भी ओंकार से जाने जाते हैं। जो (शन्नो मित्रः शं व०) इस मन्त्र में मित्रादि नाम हैं वे भी परमेश्वर के हैं क्योंकि स्तुति, प्रार्थना, उपासना श्रेष्ठ ही की की जाती है। श्रेष्ठ उसको कहते हैं जो गुण, कर्म, स्वभाव और सत्य सत्य व्यवहारों में सब से अधिक हो। उन सब श्रेष्ठों में भी जो अत्यन्त श्रेष्ठ उसको परमेश्वर कहते हैं। जिसके तुल्य कोई न हुआ, न है और न होगा। जब तुल्य नहीं तो उससे अधिक क्योंकर हो सकता है? जैसे परमेश्वर के सत्य न्याय, दया, सर्वसामर्थ्य और सर्वज्ञत्वादि अनन्त गुण हैं वैसे अन्य किसी जड़ पदार्थ वा जीव के नहीं हैं। जो पदार्थ सत्य है उसके गुण कर्म स्वभाव भी सत्य होते हैं इसलिये मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करें, उससे भिन्न की कभी न करें क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव नामक पूर्वज महाशय विद्वान्, दैत्य दानवादि निकृष्ट मनुष्य और अन्य साधारण मनुष्यों ने भी परमेश्वर ही में विश्वास करके उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करी, उससे भिन्न की नहीं की। वैसे हम सब को करना योग्य है। इसका विशेष विचार मुक्ति और उपासना विषय में किया जायगा।

(प्रश्न) मित्रादि नामों से सखा और इन्द्रादि देवों के प्रसिद्ध व्यवहार देखने से उन्हीं का ग्रहण करना चाहिये। (उत्तर) यहां उनका ग्रहण करना योग्य नहीं क्योंकि जो मनुष्य किसी का मित्र है वही अन्य का शत्रु और किसी से उदासीन भी देखने में आता है। इससे मुख्यार्थ में सखा आदि का ग्रहण नहीं हो सकता। किन्तु जैसा परमेश्वर सब जगत् का निश्चित मित्र, न किसी का शत्रु और न किसी से उदासीन है, इससे भिन्न कोई भी जीव इस प्रकार का कभी नहीं हो सकता। इसलिये परमात्मा ही का ग्रहण यहां होता है। हां! गौण अर्थ में मित्रादि शब्द से सुहृदादि मनुष्यों का ग्रहण होता है। (ञिमिदा स्नेहने) इस धातु से औणादिक "क्त" प्रत्यय के होने से "मित्र" शब्द सिद्ध होता है। "मेद्यति स्निह्यति स्निह्यते वा स मित्रः" जो सब से स्नेह करके और सब को प्रीति करने योग्य है इससे उस परमेश्वर का नाम मित्र है (वृञ् वरणे, वर ईप्सायाम्) इन धातुओं से उणादि "उनन्" प्रत्यय होने से "वरुण" शब्द सिद्ध होता है। "यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून्धर्मात्मनो वृणोत्यथवा यः शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभिर्व्रियते वर्य्यते वा स वरुणः परमेश्वरः" जो आत्मयोगी, विद्वान्, मुक्ति की इच्छा करने वाले मुक्त और धर्मात्माओं का स्वीकार करता, अथवा जो शिष्ट, मुमुक्षु, मुक्त और धर्मात्माओं से ग्रहण किया जाता है वह ईश्वर "वरुण" संज्ञक है। अथवा "वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः" जिसलिये परमेश्वर सब से श्रेष्ठ है, इसीलिये उसका नाम "वरुण" है। (ऋ गतिप्रापणयोः) इस धातु से "यत्" प्रत्यय करने से "अर्य्य" शब्द सिद्ध होता है और "अर्य्य" पूर्वक (माङ् माने) इस धातु से "कनिन्" प्रत्यय होने से "अर्यमा" शब्द सिद्ध होता है। "योऽर्य्यान् स्वामिनो न्यायाधीशान् मिमीते मान्यान्

करोति सोऽर्यमा" जो सत्य न्याय के करनेहारे मनुष्यों का मान्य और पाप तथा पुण्य करनेवालों को पाप और पुण्य के फलों का यथावत् सत्य २ नियमकर्त्ता है इसीसे उस परमेश्वर का नाम "अर्यमा" है। (इदि परमैश्वर्ये) इस धातु से "रन्" प्रत्यय करने से "इन्द्र" शब्द सिद्ध होता है "य इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः परमेश्वरः" जो अखिल ऐश्वर्ययुक्त है इससे उस परमात्मा का नाम "इन्द्र" है। "बृहत्" शब्दपूर्वक (पा रक्षणे) इस धातु से "डति" प्रत्यय बृहत् के तकार का लोप और सुडागम होने से "बृहस्पति" शब्द सिद्ध होता है। "यो बृहतामाकाशादीनां पतिः स्वामी पालयिता स बृहस्पतिः" जो बड़ों से भी बड़ा और बड़े आकाशादि ब्रह्माण्डों का स्वामी है इससे उस परमेश्वर का नाम "बृहस्पति" है (विष्लृ व्याप्तौ) इस धातु से "नु" प्रत्यय होकर "विष्णु" शब्द सिद्ध हुआ है। "वेवेष्टि व्याप्नोति चराऽचरं जगत् स विष्णुः" चर और अचररूप जगत् में व्यापक होने से परमात्मा का नाम "विष्णु" है। "उरुर्महान् क्रमः पराक्रमो यस्य स उरुक्रमः" अनन्त पराक्रमयुक्त होने से परमात्मा का नाम "उरुक्रम" है। जो परमात्मा (उरुक्रमः) महापराक्रमयुक्त (मित्रः) सब का सुहृत् अविरोधी है वह (शम्) सुखकारक, वह (वरुणः) सर्वोत्तम, वह (शम्) सुखस्वरूप, वह (अर्यमा) न्यायाधीश, वह (शम्) सुखप्रचारक, वह (इन्द्रः) जो सकल ऐश्वर्यवान्, वह (शम्) सकल ऐश्वर्यदायक, वह (बृहस्पतिः) सब का अधिष्ठाता (शम्) विद्याप्रद और (विष्णुः) जो सब में व्यापक परमेश्वर है, वह (नः) हमारा कल्याणकारक (भवतु) हो॥

(वायो ते ब्रह्मणे नमोऽस्तु) (बृह बृहि वृद्धौ) इन धातुओं से "ब्रह्म" शब्द सिद्ध होता है। जो सब के ऊपर विराजमान, सब से बड़ा, अनन्तबलयुक्त परमात्मा है उस ब्रह्म को हम नमस्कार करते हैं। हे परमेश्वर! (त्वमेव प्रत्यक्षम्ब्रह्मासि) आप ही अन्तर्यामिरूप से प्रत्यक्ष ब्रह्म हो (त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि) मैं आप ही को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा क्योंकि आप सब जगह में व्याप्त होके सब को नित्य ही प्राप्त हैं (ऋतं वदिष्यामि) जो आप की वेदस्थ यथार्थ आज्ञा है उसी का मैं सब के लिये उपदेश और आचरण भी करूंगा (सत्यं वदिष्यामि) सत्य बोलूं, सत्य मानूं और सत्य ही करूंगा (तन्मामवतु) सो आप मेरी रक्षा कीजिये (तद्वक्तारमवतु) सो आप मुझ आप्त सत्यवक्ता की रक्षा कीजिये कि जिससे आप की आज्ञा में मेरी बुद्धि स्थिर होकर विरुद्ध कभी न हो। क्योंकि जो आप की आज्ञा है वही धर्म और जो उससे विरुद्ध वही अधर्म है (अवतु मामवतु वक्तारम्) यह दूसरी वार पाठ अधिकार्थ के लिये है। जैसे "कश्चित् कञ्चित् प्रति वदति त्वं ग्रामं गच्छ गच्छ" इसमें दो वार क्रिया के उच्चारण से तू शीघ्र ही ग्राम को जा ऐसा सिद्ध होता है। ऐसे ही यहां कि आप मेरी अवश्य रक्षा करो अर्थात् धर्म से सुनिश्चित और अधर्म से घृणा सदा करूं ऐसी कृपा मुझ पर कीजिये मैं आपका बड़ा उपकार मानूंगा (ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः) इस में तीन वार शान्तिपाठ का यह प्रयोजन है कि त्रिविधताप अर्थात् इस संसार में तीन प्रकार के दुःख हैं एक "आध्यात्मिक" जो आत्मा शरीर में अविद्या, राग, द्वेष, मूर्खता और ज्वर पीड़ादि होते हैं। दूसरा 'आधिभौतिक" जो शत्रु, व्याघ्र और सर्पादि से प्राप्त होता है। तीसरा "आधिदैविक" अर्थात् जो अतिवृष्टि, अतिशीत, अति उष्णता मन और इन्द्रियों की अशान्ति से होता है। इन तीन प्रकार के क्लेशों से आप हम लोगों को दूर करके कल्याणकारक कर्मों में सदा प्रवृत्त रखिये। क्योंकि आप ही कल्याणस्वरूप सब संसार के कल्याणकर्त्ता और धार्मिक मुमुक्षुओं को कल्याण के दाता हैं। इसलिये आप स्वयं अपनी करुणा से सब जीवों के हृदय में प्रकाशित हूजिये कि जिससे सब जीव धर्म का आचरण और अधर्म को छोड़ के परमानन्द को प्राप्त हों और दुःखों से पृथक् रहें। "सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" इस यजुर्वेद के वचन से जो जगत् नाम प्राणी चेतन और जंगम अर्थात् जो चलते फिरते हैं "तस्थुषः" अप्राणी अर्थात्

स्थावर जड़ अर्थात् पृथिवी आदि हैं उन सब के आत्मा होने और स्वप्रकाशरूप सब के प्रकाश करने से परमेश्वर का नाम "सूर्य" है। (अत सातत्यगमने) इस धातु से "आत्मा" शब्द सिद्ध होता है। "योऽतति व्याप्नोति स आत्मा" जो सब जीवादि जगत् में निरन्तर व्यापक हो रहा है। "परश्चासावात्मा च य आत्मभ्यो जीवेभ्यः सूक्ष्मेभ्यः परोऽतिसूक्ष्मः स परमात्मा" जो सब जीव आदि से उत्कृष्ट और जीव प्रकृति तथा आकाश से भी अतिसूक्ष्म और सब जीवों का अन्तर्यामी आत्मा है इससे ईश्वर का नाम "परमात्मा" है। सामर्थ्यवाले का नाम ईश्वर है। "य ईश्वरेषु समर्थेषु परमः श्रेष्ठः स परमेश्वरः" जो ईश्वरों अर्थात् समर्थों में समर्थ, जिसके तुल्य कोई भी न हो उस का नाम "परमेश्वर" है। (षुञ् अभिषवे, षूङ् प्राणिगर्भविमोचने) इन धातुओं से "सविता" शब्द सिद्ध होता है। "अभिषवः प्राणिगर्भविमोचनं चोत्पादनम्। यश्चराचरं जगत् सुनोति सूते वोत्पादयति स सविता परमेश्वरः" जो सब जगत् की उत्पत्ति करता है इसलिये परमेश्वर का नाम "सविता" है। (दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु) इस धातु से "देव" शब्द सिद्ध होता है। (क्रीड़ा) जो शुद्ध जगत् को क्रीड़ा कराने (विजिगीषा) धार्मिकों को जिताने की इच्छायुक्त (व्यवहार) सब चेष्टा के साधनोपसाधनों का दाता (द्युति) स्वयंप्रकाशस्वरूप सब का प्रकाशक (स्तुति) प्रशंसा के योग्य (मोद) आप आनन्दस्वरूप और दूसरों को आनन्द देनेहारा (मद) मदोन्मत्तों का ताड़नेहारा (स्वप्न) सब के शयनार्थ रात्रि और प्रलय का करनेहारा (कान्ति) कामना के योग्य और (गति) ज्ञानस्वरूप है इसलिये उस परमेश्वर का नाम "देव" है। अथवा "यो दीव्यति क्रीडति स देवः" जो अपने स्वरूप में आनन्द से आप ही क्रीड़ा करे अथवा किसी के सहाय के बिना क्रीड़ावत् सहज स्वभाव से सब जगत् को बनाता वा सब क्रीड़ाओं का आधार है। "विजिगीषते स देवः" जो सब का जीतनेहारा स्वयं अजेय अर्थात् जिसको कोई भी न जीत सके। "व्यवहारयति स देवः" जो न्याय और अन्यायरूप व्यवहारों का जनानेहारा और उपदेष्टा, "यश्चराचरं जगत् द्योतयति" जो सब का प्रकाशक, "यः स्तूयते स देवः" जो सब मनुष्यों को प्रशंसा के योग्य और निन्दा के योग्य न हो, "यो मोदयति स देवः" जो स्वयं आनन्दस्वरूप और दूसरों को आनन्द कराता, जिसको दुःख का लेश भी न हो, "यो माद्यति स देवः" जो सदा हर्षित, शोकरहित और दूसरों को हर्षित करने और दुःखों से पृथक् रखने वाला, "यः स्वापयति स देवः" जो प्रलय समय अव्यक्त में सब जीवों को सुलाता, "यः कामयते काम्यते वा स देवः" जिसके सब सत्य काम और जिसकी प्राप्ति की कामना सब शिष्ट करते हैं तथा "यो गच्छति गम्यते वा स देवः" जो सब में व्याप्त और जानने के योग्य है इससे उस परमेश्वर का नाम "देव" है। (कुवि आच्छादने) इस धातु से "कुबेर" शब्द सिद्ध होता है। "यः सर्वं कुवति स्वव्याप्त्याच्छादयति स कुबेरो जगदीश्वरः" जो अपनी व्याप्ति से सब का आच्छादन करे इससे उस परमेश्वर का नाम "कुबेर" है। (प्रथ विस्तारे) इस धातु से "पृथिवी" शब्द सिद्ध होता है "यः प्रथते सर्वजगद्विस्तृणाति स पृथिवी" जो सब विस्तृत जगत् का विस्तार करनेवाला है इसलिये उस परमेश्वर का नाम पृथिवी है। (जल घातने) इस धातु से "जल" शब्द सिद्ध होता है "जलति घातयति दुष्टान्, संघातयति-अव्यक्तपरमाण्वादीन् तद् ब्रह्म जलम्" जो दुष्टों का ताड़न और अव्यक्त तथा परमाणुओं का अन्योऽन्य संयोग वा वियोग करता है वह परमात्मा "जल" संज्ञक कहाता है। (काशृ दीप्तौ) इस धातु से "आकाश" शब्द सिद्ध होता है, "यः सर्वतः सर्वं जगत् प्रकाशयति स आकाशः" जो सब ओर से जगत् का प्रकाशक है इसलिये उस परमात्मा का नाम "आकाश" है। (अद भक्षणे) इस धातु से "अन्न" शब्द सिद्ध होता है।

अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते ॥ १ ॥

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः ॥ २ ॥ तैत्ति० उपनि० [अनुवाक २ । १०] अत्ताचराचरग्रहणात् [वेदान्तदर्शने अ० १ । पा० २ । सू० ९]

यह व्यासमुनि कृत शारीरिक सूत्र है । जो सबको भीतर रखने वा सब को ग्रहण करने योग्य, चराचर जगत् का ग्रहण करनेवाला है, इससे ईश्वर के "अन्न" "अन्नाद" और "अत्ता" नाम हैं । और जो इसमें तीन वार पाठ है सो आदर के लिये है । जैसे गूलर के फल में कृमि उत्पन्न होके उसी में रहते और नष्ट होजाते हैं वैसे परमेश्वर के वीच मे सब जगत् की अवस्था है (वस निवासे) इस धातु से "वसु" शब्द सिद्ध हुआ है । "वसन्ति भूतानि यस्मिन्नथवा यः सर्वेषु भूतेषु वसति स वसुरीश्वरः" जिसमें सब आकाशादि भूत वसते हैं और जो सब मे वास कर रहा है इसलिये उस परमेश्वर का नाम "वसु" है । (रुदिर् अश्रुविमोचने) इस धातु से "णिच्" प्रत्यय होने से "रुद्र" शब्द सिद्ध होता है । "यो रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः" जो दुष्ट कर्म करनेहारों को रुलाता है इससे उस परमेश्वर का नाम "रुद्र" है ।

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति यत् कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते ॥

यह यजुर्वेद के ब्राह्मण का वचन है । जीव जिसका मन से ध्यान करता उसको वाणी से बोलता, जिसको वाणी से बोलता उसको कर्म से करता, जिसको कर्म से करता उसी को प्राप्त होता है । इससे क्या सिद्ध हुआ कि जो जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही फल पाता है । जब दुष्ट कर्म करनेवाले जीव ईश्वर की न्यायरूपी व्यवस्था से दुःखरूप फल पाते तब रोते हैं और इसी प्रकार ईश्वर उनको रुलाता है, इसलिये परमेश्वर का नाम "रुद्र" है ॥

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नर सूनवः । ता तदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥
मनु० [अ० १ । श्लोक १०]

जल और जीवों का नाम नारा है वे अयन अर्थात् निवासस्थान हैं जिसका इसलिये सब जीवों में व्यापक परमात्मा का नाम "नारायण" है । (चदि आह्लादे) इस धातु से "चन्द्र" शब्द सिद्ध होता है । 'यश्चन्दति चन्दयति वा स चन्द्रः" जो आनन्दस्वरूप और सब को आनन्द देनेवाला है इसलिये ईश्वर का नाम "चन्द्र" है । (मगि गत्यर्थक) धातु से "मङ्गेरलच्" इस सूत्र से "मङ्गल" शब्द सिद्ध होता है । "यो मङ्गति मङ्गयति वा स मङ्गलः" जो आप मङ्गलस्वरूप और सब जीवो के मङ्गल का कारण है इसलिये उस परमेश्वर का नाम "मङ्गल" है । (वुध अवगमने) इस धातु से "वुध" शब्द सिद्ध होता है । "यो बुध्यते बोधयति वा स वुधः" जो स्वयं बोधस्वरूप और सब जीवो के वोध का कारण है इसलिये उस परमेश्वर का नाम "वुध" है । "वृहस्पति" शब्द का अर्थ कह दिया । (ईशुचिर् पूतीभावे) इस धातु से "शुक्र" शब्द सिद्ध हुआ है । "यः शुच्यति शोचयति वा स शुक्रः" जो अत्यन्त पवित्र और जिसके सङ्ग से जीव भी पवित्र हो जाता है इसलिये ईश्वर का नाम "शुक्र" है । (चर गतिभक्षणयोः) इस धातु से "शनैस्" अव्यय उपपद होने से "शनैश्चर" शब्द सिद्ध हुआ है । "यः शनैश्चरति स शनैश्चरः" जो सब में सहज से प्राप्त धैर्यवान् है इससे उस परमेश्वर का नाम "शनैश्चर" है । (रह त्यागे) इस धातु से "राहु" शब्द सिद्ध होता है । "यो रहति परित्यजति दुष्टान् राहयति त्याजयति वा स राहुरीश्वरः" जो एकान्तस्वरूप जिसके स्वरूप में दूसरा पदार्थ संयुक्त नहीं जो दुष्टों को छोड़ने और अन्य को छुड़ाने हारा है इससे परमेश्वर का नाम "राहु" है । (कित निवासे

रोगापनयने च) इस धातु से "केतु" शब्द सिद्ध होता है "यः केतयति चिकित्सति वा स केतुरीश्वरः" जो सब जगत् का निवासस्थान सब रोगो से रहित और मुमुक्षुओं को मुक्ति समय में सब रोगों से छुड़ाता है इसलिये उस परमात्मा का नाम "केतु" है। (यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु) इस धातु से "यज्ञ" शब्द सिद्ध होता है। "यज्ञो वै विष्णुः" यह ब्राह्मणग्रन्थ का वचन है। "यो यजति विद्वद्भिरिज्यते वा स यज्ञः" जो सब जगत् के पदार्थों को संयुक्त करता और सब विद्वानों का पूज्य है और ब्रह्मा से ले के सब ऋषि मुनियों का पूज्य था, है और होगा इससे उस परमात्मा का नाम "यज्ञ" है क्योंकि वह सर्वत्र व्यापक है। (हु दानाऽदनयोः, आदाने चेत्येके) इस धातु से "होता" शब्द सिद्ध हुआ है "यो जुहोति स होता" जो जीवों को देने योग्य पदार्थों का दाता और ग्रहण करने योग्यों का ग्राहक है इससे उस ईश्वर का नाम "होता" है। (बन्ध बन्धने) इससे "बन्धु" शब्द सिद्ध होता है "यः स्वस्मिन् चराचरं जगद्बध्नाति बन्धुवद्धर्मात्मनां सुखाय सहायो वा वर्त्तते स बन्धुः" जिसने अपने मे सब लोक-लोकान्तरों को नियमों से बद्ध कर रक्खे और सहोदर के समान सहायक है इसी से अपनी २ परिधि वा नियम का उल्लंघन नही कर सकते। जैसे भ्राता भाइयो का सहायकारी होता है वैसे परमेश्वर भी पृथिव्यादि लोकों के धारण रक्षण और सुख देने से "बन्धु" संज्ञक है (पा रक्षणे) इस धातु से "पिता" शब्द सिद्ध हुआ है। यः पाति सर्वान् स पिता" जो सब का रक्षक जैसे पिता अपने सन्तानों पर सदा कृपालु होकर उनकी उन्नति चाहता है वैसे ही परमेश्वर सब जीवों की उन्नति चाहता है इससे उसका नाम "पिता" है। "यः पितॄणां पिता स पितामहः" जो पिताओं का भी पिता है इससे उस परमेश्वर का नाम "पितामह" है। "यः पितामहानां पिता स प्रपितामहः" जो पिताओं के पितरों का पिता है इससे परमेश्वर का नाम "प्रपितामह" है। "यो मिमीते मानयति सर्वाञ्जीवान् स माता" जैसे पूर्णकृपायुक्त जननी अपने सन्तानों का सुख और उन्नति चाहती है वैसे परमेश्वर भी सब जीवों की बढ़ती चाहता है इससे परमेश्वर का नाम "माता" है। (चर गतिभक्षणयोः) आङ्पूर्वक इस धातु से "आचार्य्य" शब्द सिद्ध होता है "य आचारं ग्राहयति सर्वा विद्या बोधयति स आचार्य ईश्वरः" जो सत्य आचार का ग्रहण करानेहारा और सब विद्याओं की प्राप्ति का हेतु होके सब विद्या प्राप्त कराता है इससे परमेश्वर का नाम "आचार्य" है। (गॄ शब्दे) इस धातु से "गुरु" शब्द बना है। "यो धर्म्यान् शब्दान् गृणात्युपदिशति स गुरुः" ॥

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ योग सू० । समाधिपादे सू० २६ ॥

यह योगसूत्र है। जो सत्यधर्मप्रतिपादक, सकल विद्यायुक्त वेदों का उपदेश करता, सृष्टि की आदि में अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा और ब्रह्मादि गुरुओ का भी गुरु और जिसका नाश कभी नहीं होता इसलिये उस परमेश्वर का नाम "गुरु" है। (अज गतिक्षेपणयोः, जनी प्रादुर्भावे) इन धातुओ से "अज" शब्द बनता है "योऽजति सृष्टिं प्रति सर्वान् प्रकृत्यादीन् पदार्थान् प्रक्षिपति जानाति वा कदाचिन्न जायते सोऽजः" जो सब प्रकृति के अवयव आकाशादि भूत परमाणुओं को यथायोग्य मिलाता शरीर के साथ जीवो का सम्बन्ध करके जन्म देता और स्वयं कभी जन्म नहीं लेता इससे उस ईश्वर का नाम "अज" है। (बृह बृहि वृद्धौ) इन धातुओ से "ब्रह्मा" शब्द सिद्ध होता है "योऽखिलं जगन्निर्माणेन बृहति वर्द्धयति स ब्रह्मा" जो सम्पूर्ण जगत् को रच के बढ़ाता है इसलिये परमेश्वर का नाम "ब्रह्मा" है "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है "सन्तीति सन्तस्तेषु सत्सु साधु तत्सत्यम्। यज्जानाति चराऽचरं जगत्तज्ज्ञानम्। न विद्यतेऽन्तोऽवधिर्मर्यादा यस्य तदनन्तम्। सर्वेभ्यो बृहत्त्वाद् ब्रह्म" जो पदार्थ हो उनको सत् कहते हैं उनमें साधु होने से

परमेश्वर का नाम सत्य है। जो सब जगत् का जाननेवाला है इससे परमेश्वर का नाम "ज्ञान" है जिसका अन्त अवधि मर्यादा अर्थात् इतना लम्बा, चौड़ा, छोटा, बड़ा है ऐसा परिमाण नहीं है इस लिये परमेश्वर का नाम "अनन्त" है। (डुदाञ् दाने) आङ्पूर्वक इस धातु से "आदि" शब्द और नञ्पूर्वक "अनादि" शब्द सिद्ध होता है। "यस्मात् पूर्वं नास्ति परं चास्ति स आदिरित्युच्य [महाभाष्य १।१।२१] न विद्यते आदिः कारणं यस्य सोऽनादिरीश्वरः" जिसके पूर्व कुछ न हो और परे हो, उसको आदि कहते हैं। जिसका आदिकारण कोई भी नहीं है इसलिये परमेश्वर का नाम अनादि है। (टुनदि समृद्धौ) आङ्पूर्वक इस धातु से "आनन्द" शब्द बनता है "आनन्दन्ति सर्वे मुक्ता यस्मिन् यद्वा यः सर्वाञ्जीवानानन्दयति स आनन्दः" जो आनन्दस्वरूप जिसमें सब मुक्त जीव आनन्द को प्राप्त होते और जो सब धर्मात्मा जीवों को आनन्दयुक्त करता है इससे ईश्वर का नाम "आनन्द" है। (अस भुवि) इस धातु से "सत्" शब्द सिद्ध होता है "यदस्ति त्रिषु कालेषु न बाध्यते तत्सद् ब्रह्म" जो सदा वर्त्तमान अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान कालों में जिसका बाध न हो उस परमेश्वर को "सत्" कहते हैं। (चिती संज्ञाने) इस धातु से "चित्" शब्द सिद्ध होता है। "यश्चेतति चेतयति संज्ञापयति सर्वान् सज्जनान् योगिनस्तच्चित्परं ब्रह्म" जो चेतनस्वरूप सब जीवों को चिताने और सत्याऽसत्य का जनानेहारा है इसलिये उस परमात्मा का नाम "चित्" है, इन तीनों शब्दों के विशेषण होने से परमेश्वर को "सच्चिदानन्दस्वरूप" कहते हैं। "यो नित्यध्रुवोऽचलोऽविनाशी स नित्यः"। जो निश्चल अविनाशी है सो नित्य शब्दवाच्य ईश्वर है। (शुन्ध शुद्धौ) इससे "शुद्ध" शब्द सिद्ध होता है। "यः शुन्धति सर्वान् शोधयति वा स शुद्ध ईश्वरः" जो स्वयं पवित्र सब अशुद्धियों से पृथक् और सब को शुद्ध करने वाला है इससे उस ईश्वर का नाम शुद्ध है (बुध अवगमने) इस धातु से "क्त" प्रत्यय होने से "बुद्ध" शब्द सिद्ध होता है। "यो बुद्धवान् सदैव ज्ञाताऽस्ति स बुद्धो जगदीश्वरः" जो सदा सब को जाननेहारा है इससे ईश्वर का नाम "बुद्ध" है। (मुच्लृ मोचने) इस धातु से "मुक्त" शब्द सिद्ध होता है। "यो मुञ्चति मोचयति वा मुमुक्षून् स मुक्तो जगदीश्वरः" जो सर्वदा अशुद्धियों से अलग और सब मुमुक्षुओं को क्लेश से छुड़ा देता है इसलिये परमात्मा का नाम "मुक्त" है। "अतएव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो जगदीश्वरः" इसी कारण से परमेश्वर का स्वभाव नित्य शुद्ध [बुद्ध] मुक्त है। निर् और आङ्पूर्वक (डुकृञ् करणे) इस धातु से 'निराकार' शब्द सिद्ध होता है। "निर्गत आकारात्स निराकारः" जिसका आकार कोई भी नहीं और न कभी शरीर धारण करता है इसलिये परमेश्वर का नाम "निराकार" है। (अञ्जू व्यक्तिम्लक्षणकान्तिगतिषु) इस धातु से "अञ्जन" शब्द और निर् उपसर्ग के योग से "निरञ्जन" शब्द सिद्ध होता है "अञ्जनं व्यक्तिर्म्लक्षणं कुकाम इन्द्रियैः प्राप्तिश्चेत्यस्माद्यो निर्गतः पृथग्भूतः स निरञ्जनः" जो व्यक्ति अर्थात् आकृति, म्लेच्छाचार, दुष्टकामना और चक्षुरादि इन्द्रियों के विषयों के पथ से पृथक् है इससे ईश्वर का नाम "निरञ्जन" है। (गण संख्याने) इस धातु से "गण" शब्द सिद्ध होता और इसके आगे "ईश" वा "पति" शब्द रखने से "गणेश" और "गणपति" शब्द सिद्ध होते हैं। "ये प्रकृत्यादयो जड़ा जीवाश्च गण्यन्ते संख्यायन्ते तेषामीशः स्वामी पतिः पालको वा" जो प्रकृत्यादि जड़ और सब जीव प्रख्यात पदार्थों का स्वामी वा पालन करनेहारा है इससे उस ईश्वर का नाम "गणेश" वा "गणपति" है। "यो विश्वमीष्टे स विश्वेश्वरः" जो संसार का अधिष्ठाता है इससे उस परमेश्वर का नाम "विश्वेश्वर" है। "यः कूटेऽनेकविधव्यवहारे स्वस्वरूपेणैव तिष्ठति स कूटस्थः परमेश्वरः" जो सब व्यवहारों में व्याप्त और सब व्यवहारों का आधार होके भी किसी व्यवहार में अपने स्वरूप को नहीं बदलता इससे परमेश्वर का नाम "कूटस्थ" है। जितने "देव" शब्द के अर्थ लिखे हैं उतने ही "देवी" शब्द के

हैं। परमेश्वर के तीनों लिङ्गों में नाम हैं, जैसे—"ब्रह्म चितिरीश्वरश्चेति" जब ईश्वर का विशेषण होगा तब "देव" जब चिति का होगा तब "देवी" इससे ईश्वर का नाम "देवी" है। (शक्लृ शक्तौ) इस धातु से "शक्ति" शब्द बनता है 'यः सर्वं जगत् कर्तुं शक्नोति स शक्तिः" जो सब जगत् के बनाने मे समर्थ है इसलिये उस परमेश्वर का नाम 'शक्ति" है। (श्रिञ् सेवायाम्) इस धातु से "श्री" शब्द सिद्ध होता है। 'यः श्रीयते सेव्यते सर्वेण जगता विद्वद्भिर्योगिभिश्च स श्रीरीश्वरः" जिसका सेवन सब जगत् विद्वान् और योगीजन करते हैं उस परमात्मा का नाम "श्री" है। (लक्ष दर्शनाङ्कनयोः) इस धातु से "लक्ष्मी" शब्द सिद्ध होता है "यो लक्षयति पश्यत्यङ्क्ते चिह्नयति चराचरं जगदथवा वेदैराप्तैर्योगिभिश्च यो लक्ष्यते स लक्ष्मीः सर्वप्रियेश्वरः" जो सब चराचर जगत् को देखता चिह्नित अर्थात् दृश्य बनाता, जैसे शरीर के नेत्र, नासिका और वृक्ष के पत्र, पुष्प, फल, मूल, पृथिवी, जल के कृष्ण, रक्त श्वेत, मृत्तिका, पाषाण, चंद्र, सूर्य्यादि चिह्न बनाता, तथा सब को देखता, सब शोभाओं की शोभा और जो वेदादि शास्त्र वा धार्मिक विद्वान् योगियो का लक्ष्य अर्थात् देखने योग्य है इससे उस परमेश्वर का नाम "लक्ष्मी" है। (सृ गतौ) इस धातु से "सरस्" उससे मतुप् और ङीप् प्रत्यय होने से "सरस्वती" शब्द सिद्ध होता है, "सरो विविधं ज्ञानं विद्यते यस्यां चितौ सा सरस्वती" जिसको विविध विज्ञान अर्थात् शब्द अर्थ सम्बन्ध प्रयोग का ज्ञान यथावत् होवे इससे उस परमेश्वर का नाम "सरस्वती" है। "सर्वाः शक्तयो विद्यन्ते यस्मिन् स सर्वशक्तिमानीश्वरः" जो अपने कार्य करने मे किसी अन्य की सहायता की इच्छा नही करता, अपने ही सामर्थ्य से अपने सब काम पूरा करता है इसलिये उस परमात्मा का नाम 'सर्वशक्तिमान्" है। (णीञ् प्रापणे) इस धातु से "न्याय" शब्द सिद्ध होता है। "प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः" यह वचन न्यायसूत्रों पर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य का है। "पक्षपातराहित्याचरणं न्याय" जो प्रत्यक्षादि प्रमाणो की परीक्षा से सत्य २ सिद्ध हो तथा पक्षपात रहित धर्मरूप आचरण है वह न्याय कहाता है। 'न्यायं कर्तुं शीलमस्य स न्यायकारीश्वरः" जिसका न्याय अर्थात् पक्षपातरहित धर्म करने ही का स्वभाव है इससे उस ईश्वर का नाम "न्यायकारी" है। (दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु) इस धातु से "दया" शब्द सिद्ध होता है। "दयते ददाति जानाति गच्छति रक्षति हिनस्ति यया सा दया बह्वी दया विद्यते यस्य स दयालुः परमेश्वरः" जो अभय का दाता सत्याऽसत्य सर्व विद्याओ को जानने, सब सज्जनों की रक्षा करने और दुष्टो को यथायोग्य दण्ड देनेवाला है इससे परमात्मा का नाम "दयालु" है। "द्वयोर्भावो द्वाभ्यामितं सा द्विता द्वीतं वा सैव तदेव वा द्वैतम्, न विद्यते द्वैतं द्वितीयेश्वरभावो यस्मिंस्तदद्वैतम्" अर्थात् "सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यं ब्रह्म" दो का होना वा दोनो से युक्त होना वह द्विता वा द्वीत अथवा द्वैत इससे जो रहित है, सजातीय जैसे मनुष्य का सजातीय दूसरा मनुष्य होता है विजातीय जैसे मनुष्य से भिन्न जातिवाला वृक्ष, पाषाणादि, स्वगत अर्थात् शरीर में जैसे आंख नाक, कान आदि अवयवों का भेद है वैसे दूसरे स्वजातीय ईश्वर, विजातीय ईश्वर वा अपने आत्मा में तत्त्वान्तर वस्तुओं से रहित एक परमेश्वर है इससे परमात्मा का नाम "अद्वैत" है। "गण्यन्ते ये ते गुणा वा यैर्गणयन्ति ते गुणाः, यो गुणेभ्यो निर्गतः स निर्गुण ईश्वरः" जितने सत्व, रज, तम, रूप, रस, स्पर्श, गन्धादि जड़ के गुण, अविद्या, अल्पज्ञता, राग, द्वेष और अविद्यादि क्लेश जीव के गुण हैं उनसे जो पृथक् है, इसमे "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" इत्यादि उपनिषदों का प्रमाण है। जो शब्द, स्पर्श, रूपादि गुणरहित है इससे परमात्मा का नाम "निर्गुण" है। "यो गुणैः सह वर्त्तते स सगुणः" जो सब का ज्ञान सर्वसुख पवित्रता अनन्त बलादि गुणों से युक्त है इसलिये परमेश्वर का नाम "सगुण" है। जैसे पृथिवी गन्धादि गुणो से "सगुण" और इच्छादि गुणो से रहित होने से "निर्गुण" है वैसे और जीव के गुणो से पृथक् होने से परमेश्वर 'निर्गुण" और सर्वज्ञादि गुणों से सहित होने

गुण" है। अर्थात् ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो सगुणता और निर्गुणता से पृथक् हो। जैसे चेतन के गुणों से पृथक् होने से जड़ पदार्थ निर्गुण और अपने गुणों से सहित होने से सगुण वैसे ही जड़ के गुणों से पृथक् होने से जीव निर्गुण और इच्छादि अपने गुणों से सहित होने से सगुण। ऐसे ही परमेश्वर में भी समझना चाहिये। "अन्तर्यन्तुं नियन्तुं शीलं यस्य सोऽयमन्तर्यामी" जो सब प्राणि और अप्राणिरूप जगत् के भीतर व्यापक होके सब का नियम करता है इसलिये उस परमेश्वर का नाम "अन्तर्यामी" है। "यो धर्मे राजते स धर्मराजः" जो धर्म ही में प्रकाशमान और अधर्म से रहित धर्म ही का प्रकाश करता है इसलिये उस परमेश्वर का नाम "धर्म्मराज" है। (यमु उपरमे) इस धातु से "यम" शब्द सिद्ध होता है। "यः सर्वान् प्राणिनो नियच्छति स यमः" जो सब प्राणियों के कर्मफल देने की व्यवस्था करता और सब अन्यायों से पृथक् रहता है इसलिये परमात्मा का नाम "यम" है। (भज सेवायाम्) इस धातु से "भग" इससे मतुप् होने से "भगवान्" शब्द सिद्ध होता है। "भगः सकलैश्वर्य्यं सेवनं वा विद्यते यस्य स भगवान्" जो समग्र ऐश्वर्य से युक्त वा भजने के योग्य है इसीलिये उस ईश्वर का नाम "भगवान्" है। (मन ज्ञाने) धातु से "मनु" शब्द बनता है। "यो मन्यते स मनुः" जो मनु अर्थात् विज्ञानशील और मानने योग्य है इसलिये उस ईश्वर का नाम "मनु" है। (पॄ पालनपूरणयोः) इस धातु से "पुरुष" शब्द सिद्ध हुआ है। "यः स्वव्याप्त्या चराऽचरं जगत् पृणाति पूरयति वा स पुरुषः" जो सब जगत् में पूर्ण हो रहा है इसलिये उस परमेश्वर का नाम "पुरुष" है। (डुभृञ् धारणपोषणयोः) "विश्व" पूर्वक इस धातु से "विश्वम्भर" शब्द सिद्ध होता है। "यो विश्वं बिभर्ति धरति पुष्णाति वा स विश्वम्भरो जगदीश्वरः" जो जगत् का धारण और पोषण करता है इसलिये उस परमेश्वर का नाम "विश्वम्भर" है। (कल संख्याने) इस धातु से "काल" शब्द बना है। "कलयति संख्याति सर्वान् पदार्थान् स कालः" जो जगत् के सब पदार्थ और जीवों की संख्या करता है इसलिये उस परमेश्वर का नाम "काल" है। (शिष्लृ विशेषणे) इस धातु से "शेष" शब्द सिद्ध होता है। "यः शिष्यते स शेषः" जो उत्पत्ति और प्रलय से शेष अर्थात् बच रहा है इसलिये उस परमात्मा का नाम "शेष" है। (आप्लृ व्याप्तौ) इस धातु से "आप्त" शब्द सिद्ध होता है। "यः सर्वान् धर्मात्मन आप्नोति वा सर्वैर्धर्मात्मभिराप्यते छलादिरहितः स आप्तः" जो सत्योपदेशक सकल विद्यायुक्त सब धर्मात्माओं को प्राप्त होता और धर्मात्माओं से प्राप्त होने योग्य छल कपटादि से रहित है इसलिये उस परमात्मा का नाम "आप्त" है। (डुकृञ् करणे) "शम्" पूर्वक इस धातु से "शङ्कर" शब्द सिद्ध हुआ है। "यः शङ्कल्याणं सुखं करोति स शङ्करः" जो कल्याण अर्थात् सुख का करनेहारा है इससे उस ईश्वर का नाम "शङ्कर" है। "महत्" शब्द पूर्वक "देव" शब्द से "महादेव" शब्द सिद्ध होता है। "यो महतां देवः स महादेवः" जो महान् देवों का देव अर्थात् विद्वानों का भी विद्वान्, सूर्यादि पदार्थों का प्रकाशक है इसलिये उस परमात्मा का नाम "महादेव" है। (प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च) इस धातु से "प्रिय" शब्द सिद्ध होता है। "यः पृणाति प्रीयते वा स प्रियः" जो सब धर्मात्माओं, मुमुक्षुओं और शिष्टों को प्रसन्न करता और सब को कामना के योग्य है इसलिये उस ईश्वर का नाम "प्रिय" है। (भू सत्तायाम्) "स्वयं" पूर्वक इस धातु से "स्वयम्भू" शब्द सिद्ध होता है। "यः स्वयं भवति स स्वयम्भूरीश्वरः" जो आप से आप ही है किसी से कभी उत्पन्न नहीं हुआ है इससे उस परमात्मा का नाम "स्वयम्भू" है। (कु शब्दे) इस धातु से "कवि" शब्द सिद्ध होता है। "यः कौति शब्दयति सर्वा विद्या स कविरीश्वरः" जो वेदद्वारा सब विद्याओं का उपदेष्टा और वेत्ता है इसलिये उस परमेश्वर का नाम "कवि" है। (शिवु कल्याणे) इस धातु से "शिव" शब्द सिद्ध होता है। "बहुलमेतन्निदर्शनम्" इससे शिवु धातु माना जाता है, जो कल्याणस्वरूप और कल्याण का करनेहारा है इसलिये उस परमेश्वर का नाम "शिव" है॥

ये सौ नाम परमेश्वर के लिखे हैं। परन्तु इनसे भिन्न परमात्मा के असंख्य नाम हैं। क्योंकि जैसे परमेश्वर के अनन्त गुण कर्म स्वभाव हैं वैसे उसके अनन्त नाम भी हैं। उनमें से प्रत्येक गुण कर्म्म और स्वभाव का एक २ नाम है। इससे ये मेरे लिखे नाम समुद्र के सामने बिन्दुवत् हैं क्योंकि वेदादि शास्त्रों मे परमात्मा के असंख्य गुण कर्म स्वभाव व्याख्यात किये हैं। उनके पढ़ने पढ़ाने से बोध हो सकता है। और अन्य पदार्थों का ज्ञान भी उन्ही को पूरा २ हो सकता है जो वेदादि शास्त्रों को पढ़ते हैं॥

(प्रश्न) जैसे अन्य ग्रन्थकार लोग आदि, मध्य और अन्त में मङ्गलाचरण करते हैं वैसे आपने कुछ भी न लिखा न किया? (उत्तर) ऐसा हमको करना योग्य नही क्योकि जो आदि, मध्य और अन्त मे मङ्गल करेगा तो उसके ग्रन्थ में आदि मध्य तथा अन्त के बीच मे जो कुछ लेख होगा वह अमङ्गल ही रहेगा, इसलिये "मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छुतितश्चेति" यह सांख्यशास्त्र [अ० ५। सू० १] का वचन है। इसका यह अभिप्राय है कि जो न्याय, पक्षपातरहित, सत्य वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा है उसी का यथावत् सर्वत्र और सदा आचरण करना मङ्गलाचरण कहाता है। ग्रन्थ के आरम्भ से ले के समाप्तिपर्यन्त सत्याचार का करना ही मङ्गलाचरण है, न कि कही मङ्गल और कही अमङ्गल लिखना। देखिये महाशय महर्षियों के लेख को—

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि॥

यह तैत्तिरीयोपनिषद् [प्रपाठक ७। अनु० ११] का वचन है। हे सन्तानो! जो "अनवद्य" अनिन्दनीय अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हैं वे ही तुमको करने योग्य हैं अधर्मयुक्त नही। इसलिये जो आधुनिक ग्रन्थों मे "श्रीगणेशाय नमः" "सीतारामाभ्यां नमः" "राधाकृष्णाभ्यां नमः" "श्रीगुरुचरणारविन्दाभ्यां नमः" "हनुमते नमः" "दुर्गायै नमः" "वटुकाय नमः" "भैरवाय नमः" "शिवाय नमः" "सरस्वत्यै नमः" "नारायणाय नमः" इत्यादि लेख देखने मे आते हैं इनको बुद्धिमान् लोग वेद और शास्त्रों से विरुद्ध होने से मिथ्या ही समझते हैं क्योंकि वेद और ऋषियों के ग्रन्थो मे कहीं ऐसा मङ्गलाचरण देखने में नही आता और आर्षग्रन्थो मे "ओ३म्" तथा "अथ" शब्द तो देखने मे आता है। देखो—

"अथ शब्दानुशासनम्" अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। यह व्याकरणमहाभाष्य।

"अथातो धर्मजिज्ञासा" अथेत्यानन्तर्ये वेदाध्ययनानन्तरम्। यह पूर्वमीमांसा।

"अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः" अथेति धर्मकथनानन्तरं धर्मलक्षणं विशेषेण व्याख्यास्यामः। यह वैशेषिकदर्शन।

"अथ योगानुशासनम्" अथेत्ययमधिकारार्थः। यह योगशास्त्र।

"अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" सांसारिकविषयभोगानन्तरं त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्त्यर्थः प्रयत्नः कर्त्तव्यः। यह सांख्यशास्त्र।

"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"। "चतुष्टयसाधनसम्पत्त्यनन्तरं ब्रह्म जिज्ञास्यम्"। यह वेदान्तसूत्र है।

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत"। यह छान्दोग्य उपनिषद् का वचन है।

"ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्"। यह माण्डूक्य उपनिषद् के का वचन है।

ऐसे ही अन्य ऋषि मुनियों के ग्रन्थों में "ओ३म्" और "अथ" शब्द लिखे हैं वैसे ही (अग्नि, इट, अग्नि, ये त्रिपताः परियन्ति०) ये शब्द चारों वेदों के आदि में लिखे हैं। "श्रीगणेशाय नमः" इत्यादि शब्द कहीं नहीं। और जो वैदिक लोग वेद के आरम्भ में "हरिः ओ३म्" लिखते और पढ़ते हैं यह पौराणिक और तांत्रिक लोगों की मिथ्या कल्पना से सीखे हैं। वेदादि शास्त्रों मे "हरि" शब्द आदि में कहीं नहीं। इसलिये "ओ३म्" वा "अथ" शब्द ही ग्रन्थ के आदि में लिखना चाहिये। यह किञ्चितमात्र ईश्वर के विषय में लिखा इसके आगे शिक्षा के विषय में लिखा जायगा॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषाविभूषित
ईश्वरनामविषये प्रथमः समुल्लासः सम्पूर्णः॥



अथ द्वितीयसमुल्लासारम्भः

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामः

मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद ॥

यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है। वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य होवे तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है। वह कुल धन्य! वह सन्तान बड़ा भाग्यवान्! जिसके माता और पिता धार्मिक विद्वान् हों। जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुंचता है उतना किसी से नहीं। जैसे माता सन्तानों पर प्रेम [और] उनका हित करना चाहती है उतना अन्य कोई नहीं करता, इसलिये (मातृमान्) अर्थात् "प्रशस्ता धार्मिकी माता विद्यते यस्य स मातृमान्" धन्य वह माता है कि जो गर्भाधान से लेकर जबतक पूरी विद्या न हो तबतक सुशीलता का उपदेश करे॥

माता और पिता को अति उचित है कि गर्भाधान के पूर्व, मध्य और पश्चात् मादक द्रव्य, मद्य, दुर्गन्ध, रूक्ष, बुद्धिनाशक पदार्थों को छोड़ के जो शान्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से सभ्यता को प्राप्त करे वैसे घृत, दुग्ध, मिष्ट, अन्नपान आदि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करें कि जिससे रजस् वीर्य्य भी दोषों से रहित होकर अत्युत्तम गुणयुक्त हों। जैसा ऋतुगमन का विधि अर्थात् रजोदर्शन के पांचवे दिवस से ले कर सोलहवे दिवस तक ऋतुदान देने का समय है उन दिनों में से प्रथम के चार दिन त्याज्य हैं, रहे १२ दिन उनमें एकादशी और त्रयोदशी को छोड़ के बाकी १० रात्रियों में गर्भाधान करना उत्तम है। और रजोदर्शन के दिन से ले के १६ वी रात्रि के पश्चात् न समागम करना। पुनः जबतक ऋतुदान का समय पूर्वोक्त न आवे तबतक और गर्भस्थिति के पश्चात् एक वर्ष तक संयुक्त न हों। जब दोनों के शरीर में आरोग्य, परस्पर प्रसन्नता, किसी प्रकार का शोक न हो। जैसा चरक और सुश्रुत मे भोजन छादन का विधान और मनुस्मृति में स्त्री पुरुष की प्रसन्नता की रीति लिखी है उसी प्रकार करें और वर्त्तें। गर्भाधान के पश्चात् स्त्री को बहुत सावधानी से भोजन छादन करना चाहिये। पश्चात् एक वर्ष पर्यन्त स्त्री पुरुष का सङ्ग न करे। बुद्धि, बल, रूप, आरोग्य, पराक्रम, शान्ति आदि गुणकारक द्रव्यों ही का सेवन स्त्री करती रहे कि जबतक सन्तान का जन्म न हो।

जब जन्म हो तब अच्छे सुगन्धियुक्त जल से बालक को स्नान, नाड़ीछेदन करके सुगन्धियुक्त घृतादि के होम * और स्त्री के भी स्नान भोजन का यथायोग्य प्रबन्ध करे कि जिससे बालक और

---

* बालक के जन्म-समय में "जातकर्मसंस्कार" होता है उसमें हवनादि वेदोक्त कर्म होते हैं वे "संस्कारविधि" मे सविस्तर लिख दिये हैं॥

स्त्री का शरीर क्रमशः आरोग्य और पुष्ट होता जाय। ऐसा पदार्थ उसकी माता वा धायी खावे कि जिससे दूध में भी उत्तम गुण प्राप्त हो। प्रसूता का दूध छः दिन तक बालक को पिलावे पश्चात् धायी पिलाया करे परन्तु धायी को उत्तम पदार्थों का खान पान माता पिता करावें। जो कोई दरिद्र हों, धायी को न रख सकें तो वे गाय वा बकरी के दूध में उत्तम ओषधि जो कि बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य करनेहारी हो उनको शुद्ध जल में भिजो, औटा छान के दूध के समान जल मिला के बालक को पिलावें। जन्म के पश्चात् बालक और उसकी माता को दूसरे स्थान में जहां का वायु शुद्ध हो वहां रक्खें, सुगन्ध तथा दर्शनीय पदार्थ भी रक्खें और उस देश मे भ्रमण करना उचित है कि जहां का वायु शुद्ध हो। और जहां धायी, गाय, बकरी आदि का दूध न मिल सके वहां जैसा उचित समझे वैसा करे। क्योंकि प्रसूता स्त्री के शरीर के अंश से बालक का शरीर होता है इसी से स्त्री प्रसवसमय निर्बल होजाती है, इसलिये प्रसूता स्त्री दूध न पिलावे। दूध रोकने के लिये स्तन के छिद्र पर उस ओषधि का लेप करे जिससे दूध स्रवित न हो। ऐसे करने से दूसरे महीने में पुनरपि युवती होजाती है। तबतक पुरुष ब्रह्मचर्य्य से वीर्य्य का निग्रह रक्खे, इस प्रकार जो स्त्री वा पुरुष करेंगे उनके उत्तम सन्तान, दीर्घायु, बल पराक्रम की वृद्धि होती ही रहेगी कि जिससे सब सन्तान उत्तम, बल, पराक्रमयुक्त, दीर्घायु, धार्मिक हों। स्त्री योनिसङ्कोचन, शोधन और पुरुष वीर्य्य का स्तम्भन करे। पुनः सन्तान जितने होंगे वे भी सब उत्तम होंगे।

बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे जिससे सन्तान सभ्य हों और किसी अङ्ग से कुचेष्टा न करने पावें। जब बोलने लगे तब उसकी माता बालक की जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण कर सके वैसा उपाय करे कि जो जिस वर्ण का स्थान, प्रयत्न अर्थात् जैसे "प" इसका ओष्ठ स्थान और स्पष्ट प्रयत्न दोनों ओष्ठों को मिलाकर बोलना, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत अक्षरों को ठीक २ बोल सकना। मधुर, गम्भीर, सुन्दर, स्वर, अक्षर, मात्रा, पद, वाक्य, संहिता, अवसान भिन्न २ श्रवण होवे। जब वह कुछ २ बोलने और समझने लगे तब सुन्दर वाणी और बड़े, छोटे, मान्य, पिता, माता, राजा, विद्वान् आदि से भाषण, उनसे वर्त्तमान और उनके पास बैठने आदि की भी शिक्षा करें जिससे कहीं उनका अयोग्य व्यवहार न हो के सर्वत्र प्रतिष्ठा हुआ करे। जैसे सन्तान जितेन्द्रिय विद्याप्रिय और सत्संग में रुचि करें वैसा प्रयत्न करते रहें। व्यर्थ क्रीड़ा, रोदन, हास्य, लड़ाई, हर्ष, शोक, किसी पदार्थ में लोलुपता, ईर्ष्या, द्वेषादि न करें। उपस्थेन्द्रिय के स्पर्श और मर्दन से वीर्य की क्षीणता नपुंसकता होती और हस्त में दुर्गन्ध भी होता है इससे उसका स्पर्श न करें। सदा सत्यभाषण शौर्य, धैर्य, प्रसन्नवदन आदि गुणों की प्राप्ति जिस प्रकार हो, करावें। जब पांच २ वर्ष के लड़का लड़की हों तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें। अन्यदेशीय भाषाओं के अक्षरों का भी। उसके पश्चात् जिनसे अच्छी शिक्षा, विद्या, धर्म, परमेश्वर, माता, पिता, आचार्य, विद्वान्, अतिथि, राजा, प्रजा, कुटुम्ब, बन्धु, भगिनी, भृत्य आदि से कैसे २ वर्त्तना इन बातों के मन्त्र, श्लोक, सूत्र, गद्य, पद्य भी अर्थसहित कंठस्थ करावें। जिनसे सन्तान किसी धूर्त के बहकाने में न आवें और जो २ विद्याधर्मविरुद्ध भ्रान्तिजाल में गिरानेवाले व्यवहार हैं उनका भी उपदेश करदें, जिससे भूत प्रेत आदि मिथ्या बातों का विश्वास न हो।

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन्।
प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुध्यति॥ मनु० [अ० ५। ६५]

अर्थ—जब गुरु का प्राणान्त हो तब मृतक-शरीर जिसका नाम प्रेत है उसका दाह करनेहारा शिष्य प्रेतहार अर्थात् मृतक को उठानेवालों के साथ दशवें दिन शुद्ध होता है। और जब उस शरीर

का दाह होचुका तब उसका नाम भूत होता है अर्थात् वह अमुकनामा पुरुष था। जितने उत्पन्न हों वर्त्तमान मे आ के न रहे वे भूतस्थ होने से उनका नाम भूत है। ऐसा ब्रह्मा से लेके आज पर्यन्त के विद्वानों का सिद्धान्त है, परन्तु जिसको शङ्का, कुसंग, कुसंस्कार होता है उसको भय और शङ्कारूप भूत, प्रेत, शाकिनी, डाकिनी आदि अनेक भ्रमजाल दुःखदायक होते हैं। देखो जब कोई प्राणी मरता है तब उसका जीव पाप, पुण्य के वश होकर परमेश्वर की व्यवस्था से सुख दुःख के फल भोगने के अर्थ जन्मान्तर धारण करता है। क्या इस अविनाशी परमेश्वर की व्यवस्था का कोई भी नाश कर सकता है? अज्ञानी लोग वैद्यकशास्त्र वा पदार्थविद्या के पढ़ने, सुनने और विचार से रहित होकर सन्निपात ज्वरादि शारीरिक और उन्मादकादि मानस रोगों का नाम भूत प्रेतादि धरते हैं। उनका औषधसेवन और पथ्यादि उचित व्यवहार न करके उन धूर्त, पाखण्डी, महामूर्ख, अनाचारी, स्वार्थी, भङ्गी, चमार, शूद्र, म्लेच्छादि पर भी विश्वासी होकर अनेक प्रकार के ढोंग, छल, कपट और उच्छिष्ट भोजन, डोरा, धागा आदि मिथ्या मन्त्र यन्त्र बांधते बंधवाते फिरते है, अपने धन का नाश, सन्तान आदि की दुर्दशा और रोगों को बढ़ाकर दुःख देते फिरते हैं। जब आंख के अंधे और गांठ के पूरे उन दुर्बुद्धि पापी स्वार्थियों के पास जाकर पूछते हैं कि "महाराज! इस लड़का, लड़की, स्त्री और पुरुष को न जाने क्या होगया है?" तब वे बोलते हैं कि "इसके शरीर मे बड़ा भूत, प्रेत, भैरव, शीतला आदि देवी आगई है जबतक तुम इसका उपाय न करोगे तबतक ये न छूटेंगे और प्राण भी लेलेंगे। जो तुम मलीदा वा इतनी भेंट दो तो हम मन्त्र जप पुरश्चरण से झाड़ के इनको निकाल दें।" तब वे अंधे और उनके सम्बन्धी बोलते हैं कि "महाराज! चाहे हमारा सर्वस्व जाओ परन्तु इनको अच्छा कर दीजिये।" तब तो उनकी बन पड़ती है। वे धूर्त्त कहते हैं "अच्छा लाओ इतनी सामग्री, इतनी दक्षिणा, देवता को भेंट और ग्रहदान कराओ।" झांझ, मृदङ्ग, ढोल, थाली लेके उसके सामने बजाते गाते और उनमें से एक पाखण्डी उन्मत्त होके नाच कूद के कहता है "मैं इसका प्राण ही ले लूंगा।" तब वे अंधे उस भङ्गी चमार आदि नीच के पगों मे पड़ के कहते हैं "आप चाहे सो लीजिये इसको बचाइये।" तब वह धूर्त्त बोलता है "मैं हनुमान हूं, लाओ पक्की मिठाई, तेल, सिन्दूर, सवा मन का रोट और लाल लंगोट।" "मैं देवी वा भैरव हूं, लाओ पांच बोतल मद्य, बीस मुर्गी, पांच बकरे, मिठाई और वस्त्र" जब वे कहते हैं कि "जो चाहो सो लो" तब तो वह पागल बहुत नाचने कूदने लगता है। परन्तु जो कोई बुद्धिमान् उनकी भेंट पांच जूता दंडा वा चपेटा लाते मारे तो उसके हनुमान्, देवी और भैरव झट प्रसन्न होकर भाग जाते हैं, क्योंकि वह उनका केवल धनादि हरण करने के प्रयोजनार्थ ढोंग है॥

और जब किसी ग्रहग्रस्त, ग्रहरूप, ज्योतिर्विदाभास के पास जाके वे कहते हैं "हे महाराज! इसको क्या है?" तब वे कहते हैं कि "इस पर सूर्य्यादि क्रूर ग्रह चढ़े हैं। जो तुम इनकी शान्तिपाठ, पूजा, दान कराओ तो इसको सुख होजाय, नहीं तो बहुत पीड़ित होकर मरजाय तो भी आश्चर्य नही।" (उत्तर) कहिये ज्योतिर्वित्! जैसी यह पृथिवी जड़ है वैसे ही सूर्य्यादि लोक हैं। वे ताप और प्रकाशादि से भिन्न कुछ भी नही कर सकते। क्या ये चेतन है जो क्रोधित होके दुःख और शान्त होके सुख दे सकें? (प्रश्न) क्या जो यह संसार मे राजा प्रजा सुखी दुखी हो रहे हैं यह ग्रहो का फल नहीं है? (उत्तर) नही, ये सब पाप पुण्यो के फल हैं। (प्रश्न) तो क्या ज्योतिःशास्त्र झूठा है? (उत्तर) नही, जो उसमें अंक, बीज, रेखागणित विद्या है वह सब सच्ची, जो फल की लीला है वह सब झूठी है। (प्रश्न) क्या जो यह जन्मपत्र है सो निष्फल है? (उत्तर) हां, वह जन्मपत्र नही किन्तु उसका नाम "शोकपत्र" रखना चाहिये क्योकि जब सन्तान का जन्म होता है, तब सब को आनन्द होता है

आनन्द तबतक होता है कि जबतक जन्मपत्र बनके ग्रहों का फल न सुनें, जब पुरोहित जन्मपत्र बनाने को कहता है तब उसके माता, पिता पुरोहित से कहते हैं "महाराज ! आप बहुत अच्छा जन्मपत्र बनाइये" जो धनाढ्य हो तो बहुतसी लाल पीली रेखाओं से चित्र विचित्र और निर्धन हो तो साधारण रीति से जन्मपत्र बनाके सुनाने को आता है। तब उसके मा बाप ज्योतिषीजी के सामने बैठ के कहते हैं "इसका जन्मपत्र अच्छा तो है ?" ज्योतिषी कहता है "जो है सो सुना देता हूं। इसके जन्मग्रह बहुत अच्छे और मित्रग्रह भी बहुत अच्छे हैं जिनका फल धनाढ्य और प्रतिष्ठावान्, जिस सभा मे जा बैठेगा तो सब के ऊपर इसका तेज पड़ेगा, शरीर से आरोग्य और राज्यमानी होगा।" इत्यादि बातें सुनके पिता आदि बोलते हैं "वाह २ ज्योतिषीजी आप बहुत अच्छे हो।" ज्योतिषीजी समझते हैं इन बातों से कार्य्य सिद्ध नही होता। तब ज्योतिषी बोलता है कि "यह ग्रह तो बहुत अच्छे हैं, परन्तु ये ग्रह क्रूर हैं अर्थात् फलाने २ ग्रह के योग से ८ वर्ष में इसका मृत्युयोग है।" इसको सुनके माता पितादि पुत्र के जन्म के आनन्द को छोड़ के, शोकसागर में डूबकर ज्योतिषीजी से कहते हैं कि "महाराजजी ! अब हम क्या करें ?" तब ज्योतिषीजी कहते हैं "उपाय करो।" गृहस्थ पूछे "क्या उपाय करें" ज्योतिषीजी प्रस्ताव करने लगते हैं कि "ऐसा २ दान करो। ग्रह के मन्त्र का जप कराओ और नित्य ब्राह्मणो को भोजन कराओगे तो अनुमान है कि नवग्रहो के विघ्न हट जायेगे।" अनुमान शब्द इसलिये है कि जो मर जायगा तो कहेंगे हम क्या करें, परमेश्वर के ऊपर कोई नही है, हमने तो बहुतसा यत्न किया और तुमने कराया उसके कर्म ऐसे ही थे। और जो बच जाय तो कहते हैं कि देखो, हमारे मन्त्र, देवता और ब्राह्मणों की कैसी शक्ति है ! तुम्हारे लड़के को बचा दिया। यहां यह बात होनी चाहिये कि जो इनके जप पाठ से कुछ न हो तो दूने तिगुने रुपये उन धूर्त्तों से ले लेने चाहियें। और बचजाय तो भी ले लेने चाहिये क्योंकि जैसे ज्योतिषियों ने कहा कि "इसके कर्म और परमेश्वर के नियम तोड़ने का सामर्थ्य किसी का नहीं" वैसे गृहस्थ भी कहे कि "यह अपने कर्म और परमेश्वर के नियम से बचा है तुम्हारे करने से नही" और तीसरे गुरु आदि भी पुण्य दान करा के आप ले लेते हैं तो उनको भी वही उत्तर देना, जो ज्योतिषियों को दिया था॥

अब रह गई शीतला और मन्त्र तन्त्र यन्त्र आदि। ये भी ऐसे ही ढोंग मचाते हैं। कोई कहता है कि "जो हम मन्त्र पढ़ के डोरा वा यन्त्र बना देवें तो हमारे देवता और पीर उस मन्त्र यन्त्र के प्रताप से उसको कोई विघ्न नही होने देते।" इनको वही उत्तर देना चाहिये कि क्या तुम मृत्यु, परमेश्वर के नियम और कर्मफल से भी बचा सकोगे ? तुम्हारे इस प्रकार करने से भी कितने ही लड़के मर जाते हैं और तुम्हारे घर में भी मर जाते हैं और क्या तुम मरण से बच सकोगे ? तब वे कुछ भी नही कह सकते और वे धूर्त्त जान लेते हैं कि यहां हमारी दाल नही गलेगी, इससे इन सब मिथ्या व्यवहारो को छोड़कर धार्मिक, सब देश के उपकारकर्त्ता, निष्कपटता से सबको विद्या पढ़ाने वाले, उत्तम विद्वान् लोगो का प्रत्युपकार करना, जैसा वे जगत् का उपकार करते हैं, इस काम को कभी न छोड़ना चाहिये। और जितनी लीला रसायन, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि करना कहते हैं उनको भी महापामर समझना चाहिये। इत्यादि मिथ्या बातों का उपदेश बाल्यावस्था ही में सन्तानों के हृदयो में डाल दे कि जिससे स्वसन्तान किसी के भ्रमजाल में पड़के दुःख न पावे और वीर्य की रक्षा में आनन्द और नाश करने मे दुःखप्राप्ति भी जना देनी चाहिये। जैसे "देखो जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़ के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके रक्षण में यही रीति है कि विषयों की कथा, विषयी लोगों का संग, विषयों का ध्यान, स्त्री दर्शन, एकान्त सेवन, संभाषण और स्पर्श आदि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रह कर उत्तम

और पूर्ण विद्या को प्राप्त होवें। जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता वह नपुंसक महाकुलक्षणी और जिसको प्रमेह रोग होता है वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह, साहस, धैर्य, बल, पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है। जो तुम लोग सुशिक्षा और विद्या के ग्रहण, वीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे तो पुनः इस जन्म में तुमको यह अमूल्य समय प्राप्त नहीं हो सकेगा। जब तक हम लोग गृहकर्मों के करनेवाले जीते हैं तभी तक तुमको विद्याग्रहण और शरीर का बल बढ़ाना चाहिये।" इसी प्रकार की अन्य २ शिक्षा भी माता और पिता करें। इसीलिये "मातृमान् पितृमान्" शब्द का ग्रहण उक्त वचन में किया है अर्थात् जन्म से ५ वें वर्ष तक बालकों को माता, ६ ठे वर्ष से ८ वें वर्ष तक पिता शिक्षा करे और ९ वें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके आचार्य्यकुल में अर्थात् जहां पूर्ण विद्वान् और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्यादान करनेवाली हों वहां लड़के और लड़कियों को भेज दें और शूद्रादि वर्ण उपनयन किये विना विद्याभ्यास के लिये गुरुकुल में भेज दें। उन्हीं के सन्तान विद्वान्, सभ्य और सुशिक्षित होते हैं, जो पढ़ाने में सन्तानों का लाड़न कभी नहीं करते किन्तु ताड़ना ही करते रहते हैं। इसमें व्याकरण महाभाष्य का प्रमाण है:—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः। लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः॥

[अ० ८। १। ८]

अर्थ—जो माता पिता और आचार्य्य सन्तान और शिष्यों का ताड़न करते हैं वे जानो अपने सन्तान और शिष्यों को अपने हाथ से अमृत पिला रहे हैं और जो सन्तानों वा शिष्यों का लाड़न करते हैं वे अपने सन्तानों और शिष्यों को विष पिला के नष्ट भ्रष्ट कर देते हैं। क्योंकि लाड़न से सन्तान और शिष्य दोषयुक्त तथा ताड़ना से गुणयुक्त होते हैं। और सन्तान और शिष्य लोग भी ताड़ना से प्रसन्न और लाड़न से अप्रसन्न सदा रहा करें। परन्तु माता, पिता तथा अध्यापक लोग ईर्ष्या, द्वेष से ताड़न न करें। किन्तु ऊपर से भयप्रदान और भीतर से कृपादृष्टि रक्खें। जैसी अन्य शिक्षा की वैसी चोरी, जारी, आलस्य, प्रमाद, मादक द्रव्य, मिथ्याभाषण, हिंसा, क्रूरता, ईर्ष्या, द्वेष, मोह आदि दोषों के छोड़ने और सत्याचार के ग्रहण करने की शिक्षा करे। क्योंकि जिस पुरुष ने जिसके सामने एक वार चोरी, जारी, मिथ्याभाषणादि कर्म किया उसकी प्रतिष्ठा उसके सामने मृत्युपर्य्यन्त नहीं होती। जैसी हानि प्रतिज्ञा मिथ्या करनेवाले की होती है वैसी अन्य किसी की नहीं। इससे जिसके साथ जैसी प्रतिज्ञा करनी उसके साथ वैसे ही पूरी करनी चाहिये अर्थात् जैसे किसी ने किसी से कहा कि "मैं तुमको वा तुम मुझसे अमुक समय में मिलूंगा वा मिलना अथवा अमुक वस्तु अमुक समय में तुमको मैं दूंगा" इसको वैसे ही पूरी करे नहीं तो उसकी प्रतीति कोई भी न करेगा। इसलिये सदा सत्यभाषण और सत्यप्रतिज्ञायुक्त सब को होना चाहिये। किसी को अभिमान न करना चाहिये। छल, कपट वा कृतघ्नता से अपना ही हृदय दुःखित होता है तो दूसरे की क्या कथा कहनी चाहिये। छल और कपट उसको कहते हैं जो भीतर और बाहर और रख दूसरे को मोह में डाल और दूसरे की हानि पर ध्यान न देकर स्वप्रयोजन सिद्ध करना। "कृतघ्नता" उसको कहते हैं कि किसी के किये हुए उपकार को न मानना। क्रोधादि दोष और कटुवचन को छोड़ शान्त और मधुर वचन ही बोले और बहुत बकवाद न करे। जितना बोलना चाहिये उससे न्यून वा अधिक न बोले। बड़ों को मान्य दें, उन सामने उठकर जा के उच्चासन पर बैठावे प्रथम "नमस्ते" करे। उन के सामने उत्तमासन पर न सभा में वैसे स्थान में बैठे जैसी अपनी योग्यता हो और दूसरा कोई न उठावे। विरोध किसी

करे। सम्पन्न होकर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग रक्खे। सज्जनों का संग और दुष्टों का त्याग अपने माता, पिता और आचार्य की तन मन और धनादि उत्तम उत्तम पदार्थों से प्रीतिपूर्वक सेवा करे

यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥

यह तैत्ति० [प्रपा० ७ । अनु० ११]

इसका यह अभिप्राय है कि माता पिता आचार्य्य अपने सन्तान और शिष्यों को सदा सत् उपदेश करें और यह भी कहैं कि जो २ हमारे धर्मयुक्त कर्म हैं उन उनका ग्रहण करो और जो २ दुष्ट कर्म हों उनका त्याग कर दिया करो। जो २ सत्य जानें उन २ का प्रकाश और प्रचार करे। किसी पाखण्डी, दुष्टाचारी मनुष्य पर विश्वास न करे और जिस २ उत्तम कर्म के लिये माता, पिता और आचार्य आज्ञा देवें उस २ का यथेष्ट पालन करे जैसे माता, पिता ने धर्म, विद्या, अच्छे आचरण के श्लोक "निघण्टु" "निरुक्त" "अष्टाध्यायी" अथवा अन्य सूत्र वा वेदमन्त्र कण्ठस्थ कराये हो उन २ का पुनः अर्थ विद्यार्थियो को विदित करावे। जैसे प्रथम समुल्लास मे परमेश्वर का व्याख्यान किया है उसी प्रकार मानके उसकी उपासना करे। जिस प्रकार आरोग्य, विद्या और बल प्राप्त हो उसी प्रकार भोजन छादन और व्यवहार करे करावे अर्थात् जितनी क्षुधा हो उससे कुछ न्यून भोजन करे। मद्य मांसादि के सेवन से अलग रहैं। अज्ञात गम्भीर जल मे प्रवेश न करे क्योंकि जलजन्तु वा किसी अन्य पदार्थ से दुःख और जो तरना न जाने तो डूब ही जा सकता है "नाविज्ञाते जलाशये" यह मनु का वचन है, अविज्ञात जलाशय मे प्रविष्ट होके स्नानादि न करें ॥

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं, वस्त्रपूतं जलं पिबेत् । सत्यपूतां वदेद्वाचं, मनःपूतं समाचरेत् ॥

मनु० [अ० ६ । ४६]

अर्थ—नीचे दृष्टि कर ऊंचे नीचे स्थान को देख के चले, वस्त्र से छान के जल पीवे, सत्य से पवित्र करके वचन बोले, मन से विचार के आचरण करे ॥

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः । न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥

चाणक्यनीति अध्या० २ । श्लो० ११ ॥

वे माता और पिता अपने सन्तानो के पूर्ण वैरी हैं जिन्होंने उनको विद्या की प्राप्ति न कराई, वे विद्वानों की सभा मे वैसे तिरस्कृत और कुशोभित होते हैं जैसे हंसो के बीच में बगुला। यही माता, पिता का कर्त्तव्य कर्म परमधर्म और कीर्त्ति का काम है जो अपने सन्तानो को तन, मन, धन से विद्या, धर्म, सभ्यता और उत्तम शिक्षायुक्त करना। यह बालशिक्षा मे थोड़ासा लिखा इतने ही से बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेगे ॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषाविभूषिते
बालशिक्षाविषये द्वितीयः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥ २ ॥

अथ तृतीयसमुल्लासारम्भः

अथाऽध्ययनाध्यापनविधिं व्याख्यास्यामः

अब तीसरे समुल्लास में पढ़ने पढ़ाने का प्रकार लिखते हैं। सन्तानों को उत्तम विद्या शिक्षा, गुण, कर्म्म और स्वभावरूप आभूषणों का धारण कराना माता, पिता, आचार्य्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है। सोने, चांदी, माणिक, मोती, मूंगा आदि रत्नों से युक्त आभूषणों के धारण कराने से मनुष्य का आत्मा सुभूषित कभी नहीं हो सकता। क्योंकि आभूषणों के धारण करने से केवल देहाभिमान, विषयासक्ति और चोर आदि का भय तथा मृत्यु का भी सम्भव है। संसार में देखने में आता है कि आभूषणों के योग से बालकादिकों का मृत्यु दुष्टों के हाथ से होता है।

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः, सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये, धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः॥

जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता, सुन्दर शीलस्वभावयुक्त, सत्यभाषणादि नियम पालनयुक्त, और जो अभिमान अपवित्रता से रहित, अन्य की मलीनता के नाशक, सत्योपदेश, विद्यादान से संसारी जनों के दुःखों के दूर करने से सुभूषित, वेदविहित कर्मों से पराये उपकार करने में रहते हैं वे नर और नारी धन्य हैं। इसलिये आठ वर्ष के हों तभी लड़कों को लड़कों की और लड़कियों को लड़कियों की पाठशाला में भेज देवें। जो अध्यापक पुरुष वा स्त्री दुष्टाचारी हों उनसे शिक्षा न दिलावें। किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक हों वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं। द्विज अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी यथायोग्य संस्कार करके यथोक्त आचार्य्य कुल अर्थात् अपनी २ पाठशाला में भेज दें। विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिये और वे लड़के और लड़कियों की पाठशाला दो कोस एक दूसरे से दूर होनी चाहिये। जो वहां अध्यापिका और अध्यापक पुरुष वा भृत्य, अनुचर हों वे कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्री और पुरुषों की पाठशाला में पुरुष रहैं। स्त्रियों की पाठशाला में पांच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पांच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे। अर्थात् जबतक वे ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी रहैं तबतक स्त्री वा पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्तसेवन, भाषण, विषयकथा, परस्परक्रीड़ा, विषय का ध्यान और सङ्ग इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहैं और अध्यापक लोग उनको इन बातों से बचावें जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील, स्वभाव, शरीर और आत्मा से बलयुक्त होके आनन्द को नित्य बढ़ा सकें। पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोस दूर ग्राम वा नगर रहै। सब को तुल्य वस्त्र, खान पान, आसन दिये जायँ, चाहे वह राजकुमार वा राजकुमारी हो चाहे दरिद्र के सन्तान हों, सब को तपस्वी होना चाहिये। उनके माता पिता अपने सन्तानों से वा सन्तान अपने माता पिताओं से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्रव्यवहार एक दूसरे से कर सकें, जिससे संसारी चिन्ता से रहित होकर केवल विद्या

बढ़ाने की चिन्ता रक्खें। जब भ्रमण करने को जायें तब उनके साथ अध्यापक रहें जिससे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें और न आलस्य प्रमाद करें।

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥ मनु० [अ० ७ । श्लोक १५२]

इसका अभिप्राय यह है कि इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिये कि पांचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजे वह दण्डनीय हो। प्रथम लड़कों का यज्ञोपवीत घर में हो और दूसरा पाठशाला में आचार्यकुल में हो। पिता माता वा अध्यापक अपने लड़का लड़कियों को अर्थसहित गायत्री मन्त्र का उपदेश करदें। वह मन्त्र यह है—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥
[यजु० अ० ३६ । मं० ३]

इस मन्त्र में जो प्रथम (ओ३म्) है उसका अर्थ प्रथमसमुल्लास में कर दिया है, वहीं से जान लेना। अब तीन महाव्याहृतियों के अर्थ संक्षेप से लिखते हैं। "भूरिति वै प्राणः" "यः प्राणयति चराऽचरं जगत् स भूः स्वयम्भूरीश्वरः" जो सब जगत् के जीवन का आधार, प्राण से भी प्रिय और स्वयम्भू है उस प्राण का वाचक होके "भूः" परमेश्वर का नाम है। "भुवरित्यपानः" "यः सर्वं दुःखमपानयति सोऽपानः" जो सब दुःखों से रहित, जिसके सङ्ग से जीव सब दुःखों से छूट जाते हैं इसलिये उस परमेश्वर का नाम "भुवः" है। "स्वरिति व्यानः" "यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः" जो नानाविध जगत् में व्यापक होके सब का धारण करता है इसलिये उस परमेश्वर का नाम "स्वः" है। ये तीनों वचन तैत्तिरीय आरण्यक [प्रपा० ७ । अनु० ५] के हैं (सवितुः) "यः सुनोत्युत्पादयति सर्वं जगत् स सविता तस्य" जो सब जगत् का उत्पादक और सब ऐश्वर्य का दाता है (देवस्य) "यो दीव्यति दीव्यते वा स देवः" जो सर्व सुखों का देनेहारा और जिसकी प्राप्ति की कामना सब करते हैं उस परमात्मा का जो (वरेण्यम्) "वर्त्तुमर्हम्" स्वीकार करने योग्य अति श्रेष्ठ (भर्गः) "शुद्धस्वरूपम्" शुद्धस्वरूप और पवित्र करनेवाला चेतन ब्रह्मस्वरूप है (तत्) उसी परमात्मा के स्वरूप को हम लोग (धीमहि) "धरेमहि" धारण करें। किस प्रयोजन के लिये कि (यः) "जगदीश्वरः" जो सविता देव परमात्मा (नः) "अस्माकम्" हमारी (धियः) "बुद्धीः" बुद्धियों को (प्रचोदयात्) "प्रेरयेत्" प्रेरणा करे अर्थात् बुरे कामों से छुड़ाकर अच्छे कामों में प्रवृत्त करे। "हे परमेश्वर ! हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप ! हे नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ! हे अज निरञ्जन निर्विकार ! हे सर्वान्तर्यामिन् ! हे सर्वाधार जगत्पते ! सकलजगदुत्पादक ! हे अनादे ! विश्वम्भर ! सर्वव्यापिन् ! हे करुणामृतवारिधे ! सवितुर्देवस्य तव यदों भूर्भुवः स्वर्वरेण्यं भर्गोऽस्ति तद्वयं धीमहि दध्मीमहि धरेमहि ध्यायेम वा कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह। हे भगवन् ! यः सविता देवः परमेश्वरो भवानस्माकं धियः प्रचोदयात्। स एवास्माकं पूज्य उपासनीय इष्टदेवो भवतु नातोऽन्यं भवत्तुल्यं भवतोऽधिकं च कञ्चित् कदाचिन्मन्यामहे" हे मनुष्यो ! जो सब समर्थों में समर्थ सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप, नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध, नित्य मुक्तस्वभाववाला, कृपासागर, ठीक २ न्याय का करनेहारा, जन्ममरणादि क्लेशरहित, आकार रहित, सब के घट २ का जाननेवाला, सब का धर्त्ता पिता, उत्पादक, अन्नादि से विश्व का पोषण करनेहारा, सकल ऐश्वर्ययुक्त, जगत् का निर्माता, शुद्धस्वरूप और जो प्राप्ति की कामना करने योग्य है उस परमात्मा का जो शुद्ध चेतनस्वरूप है उसी को हम धारण करें। इस प्रयोजन के लिये कि वह परमेश्वर हमारे आत्मा और बुद्धियों का अन्तर्यामिस्वरूप हमको दुष्टाचार अधर्मयुक्त मार्ग से हटा के श्रेष्ठाचार सत्य मार्ग में चलावे, उसको

छोड़कर दूसरे किसी वस्तु का ध्यान हम लोग नहीं करें। क्योंकि न कोई उसके तुल्य और न अधिक है। वही हमारा पिता राजा न्यायाधीश और सब सुखों का देनेहारा है॥

इस प्रकार गायत्रीमन्त्र का उपदेश करके सन्ध्योपासन की जो स्नान, आचमन, प्राणायाम आदि क्रिया हैं सिखलावे। प्रथम स्नान इसलिये है कि जिससे शरीर के बाह्य अवयवों की शुद्धि और आरोग्य आदि होते हैं। इसमें प्रमाण—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति। विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

[मनु० अ० ५। श्लोक १०९] यह मनुस्मृति का श्लोक है।

जल से शरीर के बाहर के अवयव, सत्याचरण से मन, विद्या और तप अर्थात् सब प्रकार के कष्ट भी सह के धर्म ही के अनुष्ठान करने से जीवात्मा ज्ञान अर्थात् पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के विवेक से बुद्धि, दृढ़ निश्चय पवित्र होते हैं। इससे स्नान भोजन के पूर्व अवश्य करना। दूसरा प्राणायाम इसमें प्रमाण—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः॥ [योग० साधनपादे सू० २८] यह योगशास्त्र का सूत्र है।

जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जबतक मुक्ति न हो तबतक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है॥

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः। तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

[मनु० अ० ६। ७१] यह मनुस्मृति का श्लोक है।

जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट होकर शुद्ध होते हैं वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं। प्राणायाम का विधि—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य॥ योग० [समाधिपादे] सू० ३४॥

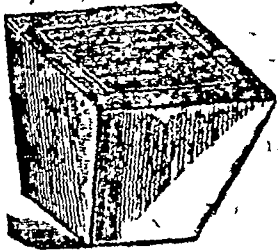
जैसे अत्युन्त वेग से वमन होकर अन्न जल बाहर निकल जाता है वैसे प्राण को बल से बाहर फेंक के बाहर ही यथाशक्ति रोकदेवे। जब बाहर निकालना चाहे तब मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच रक्खे तबतक प्राण बाहर रहता है। इसी प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है। जब घबराहट हो तब धीरे २ भीतर वायु को ले के फिर भी वैसे ही करता जाय, जितना सामर्थ्य और इच्छा हो। और मन में (ओ३म्) इसका जप करता जाय। इस प्रकार करने से आत्मा और मन की पवित्रता और स्थिरता होती है। एक "बाह्यविषय" अर्थात् बाहर ही अधिक रोकना। दूसरा "आभ्यन्तर" अर्थात् भीतर जितना प्राण रोका जाय उतना रोक के। तीसरा "स्तम्भवृत्ति" अर्थात् एक ही बार जहां का तहां प्राण को यथाशक्ति रोक देना। चौथा "बाह्याभ्यन्तराक्षेपी" अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे तब उससे विरुद्ध न निकलने देने के लिये बाहर से भीतर ले और जब बाहर से भीतर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाय। ऐसे एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया करे तो दोनो की गति रुककर प्राण अपने वश मे होने से मन और इन्द्रिय भी स्वाधीन होते हैं। बल पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप होजाती है कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्यशरीर में वीर्य्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम, ...यता सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझ कर उपस्थित कर लेगा। स्त्री भी इसी प्रकार

करे। भोजन, छादन, बैठने, उठने, बोलने, चालने, बड़े छोटे से यथायोग्य व्यवहार करने का उपदेश करें। सन्ध्योपासन जिसको ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं। "आचमन" उतने जल को हथेली में ले के उसके मूल और मध्यदेश में ओष्ठ लगा के करे कि वह जल कण्ठ के नीचे हृदय तक पहुंचे, न उससे अधिक न न्यून। उससे कण्ठस्थ कफ और पित्त की निवृत्ति थोड़ीसी होती है। पश्चात् "मार्जन" अर्थात् मध्यमा और अनामिका अंगुली के अग्रभाग से नेत्रादि अङ्गों पर जल छिड़के। उससे आलस्य दूर होता है। जो आलस्य और जल प्राप्त न हो तो न करे। पुनः समन्त्रक प्राणायाम, मनसापरिक्रमण, उपस्थान, पीछे परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना की रीति सिखलावें। पश्चात् "अघमर्षण" अर्थात् पाप करने की इच्छा भी कभी न करे। यह सन्ध्योपासन एकान्त देश में एकाग्रचित्त से करे॥

अपां समीपे नियतो नैत्यिकं विधिमास्थितः। सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः॥

[मनु० अ० २। १०४] यह मनुस्मृति का वचन है।

जङ्गल में अर्थात् एकान्त देश में जा, सावधान हो के, जल के समीप स्थित हो के नित्यकर्म को करता हुआ सावित्री अर्थात् गायत्री मन्त्र का उच्चारण, अर्थज्ञान और उसके अनुसार अपने चाल चलन को करे, परन्तु यह जप मन से करना उत्तम है। दूसरा देवयज्ञ जो अग्निहोत्र और विद्वानों का संग सेवादिक से होता है। सन्ध्या और अग्निहोत्र सायं प्रातः दो ही काल में करे। दो ही रात दिन की सन्धिवेला हैं अन्य नहीं। न्यून से न्यून एक घंटा ध्यान अवश्य करे। जैसे समाधिस्थ होकर योगी लोग परमात्मा का ध्यान करते हैं वैसे ही सन्ध्योपासन भी किया करे। तथा सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त के पूर्व अग्निहोत्र करने का समय है उसके लिये एक किसी धातु वा मट्टी के ऊपर १२ वा १६



अंगुल चौकोन उतनी ही गहिरी और नीचे ३ वा ४ अंगुल परिमाण से वेदी इस प्रकार बनावें अर्थात् ऊपर जितनी चौड़ी हो उसकी चतुर्थांश नीचे चौड़ी रहै। उसमें चन्दन पलाश वा आम्रादि के श्रेष्ठ काष्ठों के टुकड़े उसी वेदी के परिमाण से बड़े छोटे करके उसमें रक्खे उसके मध्य में अग्नि रखके पुनः उस पर समिधा अर्थात् पूर्वोक्त इन्धन रख दे एक प्रोक्षणीपात्र  ऐसा और तीसरा प्रणीतापात्र इस प्रकार का और एक इस प्रकार की आज्यस्थाली अर्थात् घृत रखने का पात्र और चमसा ऐसा सोने, चांदी वा काष्ठ का बनवा के प्रणीता और प्रोक्षणी में जल तथा घृतपात्र में घृत रख के घृत को तपा लेवे। प्रणीता जल रखने और प्रोक्षणी इसलिये है कि उससे हाथ धोने को जल लेना सुगम है। पश्चात् उस घी को अच्छे प्रकार देख लेवे फिर इन मन्त्रो से होम करे॥

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा। भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा। स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा। भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा॥

इत्यादि अग्निहोत्र के प्रत्येक मन्त्र को पढ़कर एक २ आहुति देवे और जो अधिक आहुति देना हो तो:—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आसुव॥ [यजु० अ० ३०। ३]

इस मन्त्र और पूर्वोक्त गायत्री मन्त्र से आहुति देवें। "ओं भूः" और "प्राणः" आदि ये सब नाम परमेश्वर के हैं। इनके अर्थ कह चुके हैं। "स्वाहा" शब्द का अर्थ यह है कि जैसा ज्ञान आत्मा में हो

वैसा ही जीभ से बोले, विपरीत नहीं। जैसे परमेश्वर ने सब प्राणियों के सुख के अर्थ इस सब जगत् के पदार्थ रचे हैं वैसे मनुष्यों को भी परोपकार करना चाहिये॥

(प्रश्न) होम से क्या उपकार होता है? (उत्तर) सब लोग जानते हैं कि दुर्गन्धयुक्त वायु और जल से रोग, रोग से प्राणियों को दुःख और सुगन्धित वायु तथा जल से आरोग्य और रोग के नष्ट होने से सुख प्राप्त होता है। (प्रश्न) चन्दनादि घिसके किसी के लगावे या घृतादि खाने को देवे तो बड़ा उपकार हो। अग्नि में डाल के व्यर्थ नष्ट करना बुद्धिमानों का काम नहीं। (उत्तर) जो तुम पदार्थविद्या जानते तो कभी ऐसी बात न कहते क्योंकि किसी द्रव्य का अभाव नहीं होता। देखो जहां होम होता है वहां से दूर देश में स्थित पुरुष के नासिका से सुगन्ध का ग्रहण होता है वैसे दुर्गन्ध का भी। इतने ही से समझलो कि अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म हो के फैल के वायु के साथ दूर देश में जाकर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है। (प्रश्न) जब ऐसा ही है तो केशर, कस्तूरी, सुगन्धित पुष्प और अतर आदि के घर में रखने से सुगन्धित वायु होकर सुखकारक होगा। (उत्तर) उस सुगन्ध का वह सामर्थ्य नहीं है कि गृहस्थ वायु को बाहर निकाल कर शुद्ध वायु का प्रवेश करा सके क्योंकि उस में भेदक शक्ति नहीं है और अग्नि ही का सामर्थ्य है कि उस वायु और दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को छिन्न भिन्न और हलका करके बाहर निकाल कर पवित्र वायु का प्रवेश कर देता है। (प्रश्न) तो मन्त्र पढ़ के होम करने का क्या प्रयोजन है? (उत्तर) मन्त्रों में वह व्याख्यान है कि जिससे होम करने के लाभ विदित हो जायँ और मन्त्रों की आवृत्ति होने से कण्ठस्थ रहें वेद-पुस्तकों का पठन पाठन और रक्षा भी होवे। (प्रश्न) क्या इस होम करने के विना पाप होता है? (उत्तर) हां! क्योंकि जिस मनुष्य के शरीर से जितना दुर्गन्ध उत्पन्न हो के वायु और जल को बिगाड़ कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को दुःख प्राप्त करता है उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इसलिये उस पाप के निवारणार्थ उतना सुगन्ध वा उससे अधिक वायु और जल में फैलाना चाहिये। और खिलाने पिलाने से उसी एक व्यक्ति को सुखविशेष होता है। जितना घृत और सुगन्धादि पदार्थ एक मनुष्य खाता है उतने द्रव्य के होम से लाखों मनुष्यों का उपकार होता है। परन्तु जो मनुष्य लोग घृतादि उत्तम पदार्थ न खावें तो उनके शरीर और आत्मा के बल की उन्नति न हो सके, इससे अच्छे पदार्थ खिलाना पिलाना भी चाहिये, परन्तु उससे होम अधिक करना उचित है इसलिये होम करना अत्यावश्यक है। (प्रश्न) प्रत्येक मनुष्य कितनी आहुति करे और एक २ आहुति का कितना परिमाण है? (उत्तर) प्रत्येक मनुष्य को सोलह २ आहुति और छः २ माशे घृतादि एक एक आहुति का परिमाण न्यून से न्यून चाहिये और जो इससे अधिक करे तो बहुत अच्छा है। इसलिये आर्यवरशिरोमणि महाशय ऋषि, महर्षि, राजे, महाराजे, लोग बहुतसा होम करते और कराते थे। जबतक इस होम करने का प्रचार रहा तबतक आर्यावर्त्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था, अब भी प्रचार हो तो वैसा ही होजाय। ये दो यज्ञ अर्थात् ब्रह्मयज्ञ जो पढ़ना पढ़ाना संध्योपासन ईश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना करना, दूसरा देवयज्ञ जो अग्निहोत्र से ले के अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ और विद्वानों की सेवा संग करना परन्तु ब्रह्मचर्य में केवल ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का ही करना होता है॥

ब्राह्मणस्त्रयाणां वर्णानामुपनयनं कर्त्तुमर्हति। राजन्यो द्वयस्य। वैश्यो वैश्यस्यैवेति। शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके॥

यह सुश्रुत के सूत्रस्थान के दूसरे अध्याय का वचन है। ब्राह्मण तीनों वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य; क्षत्रिय क्षत्रिय और वैश्य; तथा वैश्य एक वैश्य वर्ण का यज्ञोपवीत कराके पढ़ा सकता है।

और जो कुलीन शुभलक्षणयुक्त शूद्र हो तो उसको मन्त्रसंहिता छोड़ के सब शास्त्र पढ़ावे, शूद्र पढ़े परन्तु उसका उपनयन न करे, यह मत अनेक आचार्यों का है। पश्चात् पांचवें वा आठवें वर्ष से लड़के लड़कों की पाठशाला में और लड़की लड़कियों की पाठशाला में जावें। और निम्नलिखित नियमपूर्वक अध्ययन का आरम्भ करें॥

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्। तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा॥
मनु० [अ० ३। १

अर्थ—आठवें वर्ष से आगे छत्तीसवें वर्ष पर्यन्त अर्थात् एक २ वेद के साङ्गोपाङ्ग पढ़ने बारह २ वर्ष मिल के छत्तीस और आठ मिल के चवालीस अथवा अठारह वर्षों का ब्रह्मचर्य और पूर्व के मिल के छव्वीस वा नौ वर्ष तथा जबतक विद्या पूरी ग्रहण न कर लेवे तबतक ब्रह्मचर्य रक्खे

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातःसवनं, चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं, तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदं सर्वं वासयन्ति॥ १

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनंसवनमनुसंतनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो भवति॥ २॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनंसवनं चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यंदिनं सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयन्ति॥ ३

तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यंदिनंसवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानांरुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति॥ ४

अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनमष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्यान्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदं सर्वमाददते॥ ५॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात् प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसंतनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति॥ ६

यह छान्दोग्योपनिषद् [प्रपाठक ३ खण्ड १६] का वचन है। ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का होता है कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम, उनमें से कनिष्ठ—जो पुरुष अन्नरसमय देह और पुरि अर्थात् देह में शयन करनेवाला जीवात्मा यज्ञ अर्थात् अतीव शुभगुणों से सङ्गत और सत्कर्त्तव्य है इसको आवश्यक है कि २४ वर्ष पर्य्यन्त जितेन्द्रिय अर्थात् ब्रह्मचारी रहकर वेदादि विद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करे और विवाह करके भी लम्पटता न करे तो उसके शरीर में प्राण बलवान् होकर सब शुभगुणों के वास करनेवाले होते हैं। इस प्रथम वय में जो उसको विद्याभ्यास में संतप्त करे और वह आचार्य वैसा ही उपदेश किया करे और ब्रह्मचारी ऐसा निश्चय रक्खे कि जो मैं प्रथम अवस्था में ठीक २ ब्रह्मचारी रहूंगा तो मेरा शरीर और आत्मा आरोग्य बलवान् होके शुभगुणों को बसानेवाले मेरे प्राण होंगे। हे मनुष्यो तुम इस प्रकार से सुखों का विस्तार करो, जो मैं ब्रह्मचर्य का लोप न करूं २४ वर्ष के पश्चात् गृहाश्रम करूंगा तो प्रसिद्ध है कि रोगरहित रहूंगा और आयु भी मेरी ७० वा ८० वर्ष तक रहेगी। मध्यम ब्रह्मचर्य यह है—जो मनुष्य ४४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर वेदाभ्यास करता है उसके प्राण, इन्द्रियां

अन्तःकरण और आत्मा बलयुक्त हो के सब दुष्टों को रुलाने और श्रेष्ठों का पालन करनेहारे होते हैं। जो मैं इसी प्रथम वय में जैसा आप कहते हैं कुछ तपश्चर्या करूं तो मेरे ये रुद्ररूप प्राणयुक्त यह मध्यम ब्रह्मचर्य सिद्ध होगा। हे ब्रह्मचारी लोगो! तुम इस ब्रह्मचर्य को बढ़ाओ जैसे मैं इस ब्रह्मचर्य का लोप न करके यज्ञस्वरूप होता हूं और उसी आचार्यकुल से आता और रोगरहित होता हूं जैसा कि यह ब्रह्मचारी अच्छा काम करता है वैसा तुम किया करो। उत्तम ब्रह्मचर्य ४८ वर्ष पर्यन्त का तीसरे प्रकार का होता है, जैसे ४८ अक्षर की जगती वैसे जो ४८ वर्ष पर्यन्त यथावत् ब्रह्मचर्य करता है, उसके प्राण अनुकूल होकर सकल विद्याओं का ग्रहण करते हैं। जो आचार्य और माता पिता अपने सन्तानों को प्रथम वय में विद्या और गुणग्रहण के लिये तपस्वी कर और उसी का उपदेश करें और वे सन्तान आप ही आप अखण्डित ब्रह्मचर्य सेवन से तीसरे उत्तम ब्रह्मचर्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् चारसौ वर्ष पर्यन्त आयु को बढ़ावें वैसे तुम भी बढ़ाओ। क्योंकि जो मनुष्य इस ब्रह्मचर्य को प्राप्त होकर लोप नहीं करते वे सब प्रकार के रोगों से रहित होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं॥

चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति। आषोडशाद्वृद्धिः। आपञ्चविंशतेर्यौवनम्। आचत्वारिंशतः सम्पूर्णता। ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति॥

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे। समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात्कुशलो भिषक्॥

यह सुश्रुत के सूत्रस्थान ३५ अध्याय का वचन है। इस शरीर की चार अवस्था हैं एक (वृद्धि) जो १६ वें वर्ष से लेके २५ वें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की बढ़ती होती है। दूसरी (यौवन) जो २५ वे वर्ष के अन्त और २६ वे वर्ष के आदि में युवावस्था का आरम्भ होता है। तीसरी (सम्पूर्णता) जो पच्चीसवे वर्ष से लेके चालीसवें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की पुष्टि होती है। चौथी (किञ्चित्परिहाणि) जब सब साङ्गोपाङ्ग शरीरस्थ सकल धातु पुष्ट होके पूर्णता को प्राप्त होते हैं। तदनन्तर जो धातु बढ़ता है वह शरीर में नहीं रहता, किन्तु स्वप्न, प्रस्वेदादि द्वारा बाहर निकल जाता है, वही ४० वां वर्ष उत्तम समय विवाह का है अर्थात् उत्तमोत्तम तो अड़तालीसवे वर्ष मे विवाह करना। (प्रश्न) क्या यह ब्रह्मचर्य का नियम स्त्री वा पुरुष दोनों का तुल्य ही है? (उत्तर) नहीं जो २५ वर्ष पर्यन्त पुरुष ब्रह्मचर्य करे तो १६ (सोलह) वर्ष पर्यन्त कन्या, जो पुरुष ३० वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहे तो स्त्री १७ वर्ष, जो पुरुष ३६ वर्ष तक रहे तो स्त्री १८ वर्ष, जो पुरुष ४० वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य करे तो स्त्री २० वर्ष, जो पुरुष ४४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य करे तो स्त्री २२ वर्ष, जो पुरुष ४८ वर्ष ब्रह्मचर्य करे तो स्त्री २४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य सेवन रक्खे अर्थात् ४८ वें वर्ष से आगे पुरुष और २४ वें वर्ष से आगे स्त्री को ब्रह्मचर्य न रखना चाहिये, परन्तु यह नियम विवाह करने वाले पुरुष और स्त्रियों का है और जो विवाह करना ही न चाहें वे मरण पर्यन्त ब्रह्मचारी रह सकते हों तो भले ही रहें परन्तु यह काम पूर्ण विद्यावाले जितेन्द्रिय और निर्दोष योगी स्त्री और पुरुष का है। यह बड़ा कठिन काम है कि जो काम के वेग को थांभ के इन्द्रियों को अपने वश में रखना।

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च॥

यह तैत्तिरीयोपनिषद् [प्रपा० ७। अनु० ९] का वचन है। पढ़ने पढ़ानेवालों के नियम हैं।

(ऋतं०) यथार्थ आचरण से पढ़ें और पढ़ावें (सत्यं०) सत्याचार से सत्य विद्याओं को पढ़ें वा पढ़ावें (तपः०) तपस्वी अर्थात् धर्मानुष्ठान करते हुए वेदादि शास्त्रों को पढ़ें और पढ़ावें (दमः०) बाह्य इन्द्रियों को बुरे आचरणों से रोक के पढ़ें और पढ़ाते जायें (शमः) मन की वृत्ति को सब प्रकार के दोषों से हटा के पढ़ते पढ़ाते जायें (अग्नयः०) आहवनीयादि अग्नि और विद्युत् आदि को जान के पढ़ते पढ़ाते जायें और (अग्निहोत्रं०) अग्निहोत्र करते हुए पठन और पाठन करें करावें (अतिथयः०) अतिथियों की सेवा करते हुए पढ़ें और पढ़ावें (मानुषं०) मनुष्यसम्बन्धी व्यवहारों को यथायोग्य करते हुए पढ़ते पढ़ाते रहें (प्रजा०) सन्तान और राज्य का पालन करते हुए पढ़ते पढ़ाते जायें (प्रजन०) वीर्य की रक्षा और वृद्धि करते हुए पढ़ते पढ़ाते जायें (प्रजातिः०) अपने सन्तान और शिष्य का पालन करते हुए पढ़ते पढ़ाते जायें।

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः । यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥
मनु० [अ० ४ । २०४]

यम पांच प्रकार के होते हैं ॥

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ योग० [साधनपादे सू० ३०]

अर्थात् (अहिंसा) वैरत्याग (सत्य) सत्य मानना, सत्य बोलना और सत्य ही करना (अस्तेय) अर्थात् मन वचन कर्म से चोरी त्याग (ब्रह्मचर्य) अर्थात् उपस्थेन्द्रिय का संयम (अपरिग्रह) अत्यन्त लोलुपता स्वत्वाभिमानरहित होना इन पांच यमों का सेवन सदा करे, केवल नियमों का सेवन अर्थात्:—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ योग० [साधनपादे सू० ३२]

(शौच) अर्थात् स्नानादि से पवित्रता (सन्तोष) सम्यक् प्रसन्न होकर निरुद्यम रहना सन्तोष नहीं किन्तु पुरुषार्थ जितना होसके उतना करना हानि लाभ में हर्ष वा शोक न करना (तप) अर्थात् कष्टसेवन से भी धर्मयुक्त कर्मों का अनुष्ठान (स्वाध्याय) पढ़ना पढ़ाना (ईश्वरप्रणिधान) ईश्वर की भक्तिविशेष से आत्मा को अर्पित रखना ये पांच नियम कहाते हैं। यमों के विना केवल इन नियमों का सेवन न करे किन्तु इन दोनों का सेवन किया करे जो यमों का सेवन छोड़ के केवल नियमों का सेवन करता है वह उन्नति को नहीं प्राप्त होता किन्तु अधोगति अर्थात् संसार में गिरा रहता है:—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता । काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥
[मनु० अ० २ । २]

अर्थ—अत्यन्त कामातुरता और निष्कामता किसी के लिये भी श्रेष्ठ नहीं क्योंकि जो कामना न करे तो वेदों का ज्ञान और वेदविहित कर्मादि उत्तम कर्म किसी से न होसकें इसलिये:—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः । महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥
मनु० [अ० २ । २८]

अर्थ—(स्वाध्याय) सकल विद्या पढ़ने पढ़ाने (व्रत) ब्रह्मचर्य्य सत्यभाषणादि नियम पालने (होम) अग्निहोत्रादि होम सत्य का ग्रहण असत्य का त्याग और सत्य विद्याओं का दान देने (त्रैविद्येन) वेदस्थ कर्मोपासना ज्ञान विद्या के ग्रहण (इज्यया) पक्षेष्ट्यादि करने (सुतैः) सन्तानोत्पत्ति (महायज्ञैः) ब्रह्म, देव, पितृ, वैश्वदेव और अतिथियों के सेवनरूप पंचमहायज्ञ और (यज्ञैः) अग्निष्टोमादि तथा शिल्पविद्या विज्ञानादि यज्ञों के सेवन से इस शरीर को ब्राह्मी अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का

आधाररूप ब्राह्मण का शरीर किया जाता है। इतने साधनों के विना ब्राह्मणशरीर नहीं बन सकता:—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु। संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्॥

मनु० [२ । ८८]

अर्थ—जैसे विद्वान् सारथि घोड़ों को नियम में रखता है वैसे मन और आत्मा को खोटे कामों में खैंचनेवाले विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के निग्रह में प्रयत्न सब प्रकार से करे क्योंकि—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्। सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥

मनु० [२ । ९३]

अर्थ—जीवात्मा इन्द्रियों के वश होके निश्चित बड़े २ दोषों को प्राप्त होता है और जब इन्द्रियों को अपने वश में करता है तभी सिद्धि को प्राप्त होता है:—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च। न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥

मनु० [२ । ९७]

जो दुष्टाचारी अजितेन्द्रिय पुरुष है उसके वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप तथा अन्य अच्छे काम कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते:—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यिके। नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममंत्रेषु चैव हि॥ १॥
नैत्यिके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम्। ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम्॥ २॥

मनु० [२ । १०५ । १०६]

वेद के पढ़ने पढ़ाने, सन्ध्योपासनादि पंचमहायज्ञों के करने और होममन्त्रों में अनध्यायविषयक अनुरोध (आग्रह) नहीं है क्योंकि ॥ १॥ नित्यकर्म में अनध्याय नहीं होता जैसे श्वास प्रश्वास सदा लिये जाते हैं बन्द नहीं किये जा सकते वैसे नित्यकर्म प्रतिदिन करना चाहिये न किसी दिन छोड़ना क्योंकि अनध्याय में भी अग्निहोत्रादि उत्तम कर्म किया हुआ पुण्यरूप होता है जैसे झूठ बोलने में सदा पाप और सत्य बोलने में सदा पुण्य होता है वैसे ही बुरे कर्म करने में सदा अनध्याय और अच्छे कर्म करने में सदा स्वाध्याय ही होता है॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्द्धन्त आयुर्विद्या यशो बलम्॥

मनु० [२ । १२१]

जो सदा नम्र सुशील विद्वान् और वृद्धों की सेवा करता है उसका आयु, विद्या, कीर्ति और बल ये चार सदा बढ़ते हैं और जो ऐसा नहीं करते उनके आयु आदि चार नहीं बढ़ते॥

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्। वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥ १॥
यस्य वाङ्मनसे शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा। स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्॥ २॥

मनु० [२ । १५९ । १६०]

विद्वान् और विद्यार्थियों को योग्य है कि वैरबुद्धि छोड़ के सब मनुष्यों को कल्याण के मार्ग का उपदेश करें और उपदेष्टा सदा मधुर सुशीलतायुक्त वाणी बोलें। जो धर्म की उन्नति चाहे वह सदा सत्य में चले और सत्य ही का उपदेश करे॥ १॥ जिस मनुष्य के वाणी और मन शुद्ध तथा सुरक्षित सदा रहते हैं वही सब वेदान्त अर्थात् सब वेदों के सिद्धान्तरूप फल को प्राप्त होता है॥ २॥

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव । अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥
मनु० [२ । १६२]

वही ब्राह्मण समग्र वेद और परमेश्वर को जानता है जो प्रतिष्ठा से विष के तुल्य सदा डरता है और अपमान की इच्छा अमृत के समान किया करता है ॥

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः । गुरौ वसन् संश्चिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥
मनु० [२ । १६४]

इसी प्रकार से कृतोपनयन द्विज ब्रह्मचारी कुमार और ब्रह्मचारिणी कन्या धीरे २ वेदार्थ के ज्ञानरूप उत्तम तप को बढ़ाते चले जायें ॥

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् । स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥
मनु० [२ । १६८]

जो वेद को न पढ़ के अन्यत्र श्रम किया करता है वह अपने पुत्र पौत्र सहित शूद्रभाव को शीघ्र ही प्राप्त होजाता है ॥

वर्जयेन्मधु मांसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः । शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ १ ॥
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् । कामं क्रोधं च लोभं च नर्त्तनं गीतवादनम् ॥ २ ॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम् । स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥ ३ ॥
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् । कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ ४ ॥
मनु० [२ । १७७–१८०]

ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी मद्य, मांस, गन्ध, माला, रस, स्त्री और पुरुष का सङ्ग, सब खटाई, प्राणियों की हिंसा ॥ १ ॥ अङ्गों का मर्दन, विना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श, आंखों में अञ्जन, जूते और छत्र का धारण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष, नाच, गान और बाजा बजाना ॥ २ ॥ द्यूत, जिस किसी की कथा, निन्दा, मिथ्याभाषण, स्त्रियों का दर्शन, आश्रय, दूसरे की हानि आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवें ॥ ३ ॥ सर्वत्र एकाकी सोवे वीर्य्यस्खलित कभी न करे, जो कामना से वीर्य्यस्खलित करदे तो जानो कि अपने ब्रह्मचर्य्यव्रत का नाश करदिया ॥ ४ ॥

वेदमनूच्याचार्य्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्य्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । देवपितृकार्य्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्य्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि । यान्यस्माकꣳसुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणास्तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धया देयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनो युक्ता अयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युर्यथा ते तत्र वर्त्तेरन् । तथा तत्र वर्त्तेथाः । एष आदेश एष उपदेश

एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥ तैत्तिरीय० [प्रपा० ७ । अनु० ११ । क० १ । २ । ३ । ४]

आचार्य्य अन्तेवासी अर्थात् अपने शिष्य और शिष्याओं को इस प्रकार उपदेश करे कि तू सदा सत्य बोल, धर्माचरण कर, प्रमादरहित होके पढ़ पढ़ा, पूर्ण ब्रह्मचर्य्य से समस्त विद्याओं को ग्रहण और आचार्य्य के लिये प्रिय धन देकर विवाह करके सन्तानोत्पत्ति कर, प्रमाद से सत्य को कभी मत छोड़, प्रमाद से धर्म का त्याग मत कर, प्रमाद से आरोग्य और चतुराई को मत छोड़, प्रमाद से उत्तम ऐश्वर्य की वृद्धि को मत छोड़, प्रमाद से पढ़ने और पढ़ाने को कभी मत छोड़, देव=विद्वान् और माता पितादि की सेवा में प्रमाद मत कर। जैसे विद्वान् का सत्कार करे उसी प्रकार माता, पिता, आचार्य्य और अतिथि की सेवा सदा किया कर। जो अनिन्दित धर्मयुक्त कर्म हों उन सत्यभाषणादि को किया कर, उनसे भिन्न मिथ्याभाषणादि कभी मत कर। जो हमारे सुचरित्र अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हों उनका ग्रहण कर और जो हमारे पापाचरण हों उनको कभी मत कर, जो कोई हमारे मध्य में उत्तम विद्वान् धर्मात्मा ब्राह्मण हैं, उन्ही के समीप बैठ और उन्हीं का विश्वास किया कर, श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से देना, शोभा से देना, लज्जा से देना, भय से देना और प्रतिज्ञा से भी देना चाहिये। जब कभी तुझ को कर्म वा शील तथा उपासना ज्ञान में किसी प्रकार का संशय उत्पन्न हो तो जो वे विचारशील पक्षपातरहित योगी अयोगी आर्द्रचित्त धर्म की कामना करनेवाले धर्मात्मा जन हों जैसे वे धर्ममार्ग में वर्त्तें वैसे तू भी उसमें वर्त्ता कर। यही आदेश, आज्ञा, यही उपदेश, यही वेद की उपनिषत् और यही शिक्षा है। इसी प्रकार वर्त्तना और अपना चालचलन सुधारना चाहिये॥

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् । यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥
मनु० [२ । ४]

मनुष्यों को निश्चय करना चाहिये कि निष्काम पुरुष में नेत्र का संकोच विकाश का होना भी सर्वथा असम्भव है इससे यह सिद्ध होता है कि जो २ कुछ भी करता है वह २ चेष्टा कामना के विना नहीं है॥

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च । तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ॥ १ ॥
आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते । आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत् ॥ २ ॥
मनु० [१ । १०८ । १०९]

कहने, सुनने, सुनाने, पढ़ने, पढ़ाने का फल यही है कि जो वेद और वेदानुकूल स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म का आचरण करना इसलिये धर्माचार में सदा युक्त रहे ॥ १ ॥ क्योंकि जो धर्माचरण से रहित है वह वेदप्रतिपादित धर्मजन्य सुखरूप फल को प्राप्त नहीं हो सकता और जो विद्या पढ़ के धर्माचरण करता है वही सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है ॥ २ ॥

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः । स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥
मनु० [२ । ११]

जो वेद और वेदानुकूल आप्त पुरुषों के किये शास्त्रों का अपमान करता है उस वेदनिन्दक नास्तिक को जाति, पङ्क्ति और देश से बाह्य कर देना चाहिये, क्योंकि:—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः । एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥
मनु० [२ । १२]

वेद, स्मृति, वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार जो सनातन अर्थात् वेदद्वारा परमेश्वरप्रतिपादित कर्म्म और अपने आत्मा में प्रिय अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है जैसा कि सत्यभाषण, ये चार धर्म के लक्षण अर्थात् इन्हीं से धर्माऽधर्म का निश्चय होता है जो पक्षपातरहित न्याय सत्य का ग्रहण असत्य का सर्वथा परित्यागरूप आचार है उसी का नाम धर्म और इससे विपरीत जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहणरूप कर्म है उसी को अधर्म कहते हैं ॥

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते । धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥
मनु० [२ । १३]

जो पुरुष (अर्थ) सुवर्णादि रत्न और (काम) स्त्रीसेवनादि में नहीं फंसते हैं उन्हीं को धर्म का ज्ञान प्राप्त होता है जो धर्म के ज्ञान की इच्छा करें वे वेद द्वारा धर्म का निश्चय करें क्योंकि धर्माऽधर्म का निश्चय विना वेद के ठीक २ नहीं होता ॥

इस प्रकार आचार्य्य अपने शिष्य को उपदेश करे और विशेषकर राजा इतर क्षत्रिय, वैश्य और उत्तम शूद्र जनों को भी विद्या का अभ्यास अवश्य करावें । क्योंकि जो ब्राह्मण हैं वे ही केवल विद्याभ्यास करें और क्षत्रियादि न करें तो विद्या, धर्म, राज्य और धनादि की वृद्धि कभी नहीं हो सकती । क्योंकि ब्राह्मण तो केवल पढ़ने पढ़ाने और क्षत्रियादि से जीविका को प्राप्त होके जीवन धारण कर सकते हैं जीविका के आधीन और क्षत्रियादि के आज्ञादाता और यथावत् परीक्षक दण्डदाता न होने से ब्राह्मणादि सब वर्ण पाखण्ड ही में फँस जाते हैं और जब क्षत्रियादि विद्वान् होते हैं तब ब्राह्मण भी अधिक विद्याभ्यास और धर्मपथ में चलते हैं और उन क्षत्रियादि विद्वानों के सामने पाखण्ड झूठा व्यवहार भी नहीं कर सकते और जब क्षत्रियादि अविद्वान् होते हैं तो वे जैसा अपने मन में आता है वैसा ही करते कराते हैं । इसलिये ब्राह्मण भी अपना कल्याण चाहें तो क्षत्रियादि को वेदादि सत्यशास्त्र का अभ्यास अधिक प्रयत्न से करावें । क्योंकि क्षत्रियादि ही विद्या, धर्म, राज्य और लक्ष्मी की वृद्धि करनेहारे हैं; वे कभी भिक्षावृत्ति नहीं करते इसलिये वे विद्याव्यवहार में पक्षपाती भी नहीं हो सकते और जब सब वर्णों में विद्या सुशिक्षा होती है तब कोई भी पाखण्डरूप अधर्मयुक्त मिथ्या व्यवहार को नहीं चला सकता इससे क्या सिद्ध हुआ कि क्षत्रियादि को नियम में चलानेवाले ब्राह्मण और संन्यासी तथा ब्राह्मण और संन्यासी को सुनियम में चलानेवाले क्षत्रियादि होते हैं । इसलिये सब वर्णों के स्त्री पुरुषों में विद्या और धर्म का प्रचार अवश्य होना चाहिये । अब जो २ पढ़ना पढ़ाना हो वह वह अच्छे प्रकार परीक्षा करके होना योग्य है—परीक्षा पांच प्रकार से होती है । एक—जो २ ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदों से अनुकूल हो वह २ सत्य और उससे विरुद्ध असत्य है । दूसरी जो २ सृष्टिक्रम से अनुकूल वह २ सत्य और जो २ सृष्टिक्रम से विरुद्ध है वह सब असत्य है जैसे कोई कहे कि विना माता पिता के योग से लड़का उत्पन्न हुआ ऐसा कथन सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से सर्वथा असत्य है । तीसरी—"आप्त" अर्थात् जो धार्मिक विद्वान्, सत्यवादी, निष्कपटियों का संग उपदेश के अनुकूल है वह २ ग्राह्य और जो २ विरुद्ध वह २ अग्राह्य है । चौथी—अपने आत्मा की पवित्रता विद्या के अनुकूल अर्थात् जैसा अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है वैसे ही सर्वत्र समझ लेना कि मैं भी किसी को दुःख वा सुख दूंगा तो वह भी अप्रसन्न और प्रसन्न होगा । और पांचवी—आठों प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव इनमें से प्रत्यक्ष के लक्षणादि में जो २ सूत्र नीचे लिखेंगे वे २ सब न्यायशास्त्र के प्रथम और द्वितीय अध्याय के जानो ॥

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकम्प्रत्यक्षम् ॥ न्यायसू० अ० १ । आह्निक १ । सूत्र ४ ॥

जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरणरहित सम्बन्ध होता है, इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है उसको प्रत्यक्ष कहते हैं परन्तु जो व्यपदेश्य अर्थात् संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है वह ज्ञान न हो। जैसा किसी ने किसी से कहा कि "तू जल ले आ" वह लाके उसके पास धर के बोला कि "यह जल है" परन्तु वहां "जल" इन दो अक्षरों की संज्ञा लाने वा मंगानेवाला नहीं देख सकता है। किन्तु जिस पदार्थ का नाम जल है वही प्रत्यक्ष होता है और जो शब्द से ज्ञान उत्पन्न होता है वह शब्दप्रमाण का विषय है। "अव्यभिचारि" जैसे किसी ने रात्रि में खम्भे को देख के पुरुष का निश्चय कर लिया जब दिन में उसको देखा तो रात्रि का पुरुषज्ञान नष्ट होकर स्तम्भज्ञान रहा ऐसे विनाशीज्ञान का नाम व्यभिचारी है सो प्रत्यक्ष नहीं कहाता। "व्यवसायात्मक" किसी ने दूर से नदी की वालू को देख के कहा कि "वहां वस्त्र सूख रहे हैं जल है वा और कुछ है" "वह देवदत्त खड़ा है वा यज्ञदत्त" जबतक एक निश्चय न हो तबतक वह प्रत्यक्षज्ञान नहीं है किन्तु जो अव्यपदेश्य, अव्यभिचारि और निश्चयात्मक ज्ञान है उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं ॥

दूसरा अनुमान—

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टञ्च ॥ न्याय० । अ० १ । आ० १ । सू० ५ ॥

जो प्रत्यक्षपूर्वक अर्थात् जिसका कोई एकदेश वा सम्पूर्ण द्रव्य किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हुआ हो उसका दूर देश से सहचारी एक देश के प्रत्यक्ष होने से अदृष्ट अवयवी का ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं। जैसे पुत्र को देख के पिता, पर्वतादि में धूम को देख के अग्नि, जगत् में सुख दुःख देख के पूर्वजन्म का ज्ञान होता है। वह अनुमान तीन प्रकार का है। एक "पूर्ववत्" जैसे बादलों को देख के वर्षा, विवाह को देख के सन्तानोत्पत्ति, पढ़ते हुए विद्यार्थियों को देख के विद्या होने का निश्चय होता है, इत्यादि जहां २ कारण को देख के कार्य का ज्ञान हो वह "पूर्ववत्"। दूसरा "शेषवत्" अर्थात् जहां कार्य को देख के कारण का ज्ञान हो जैसे नदी के प्रवाह की बढ़ती देख के ऊपर हुई वर्षा का, पुत्र को देख के पिता का, सृष्टि को देख के अनादि कारण का तथा कर्त्ता ईश्वर का और पाप पुण्य के आचरण देख के सुख दुःख का ज्ञान होता है * इसी को "शेषवत्" कहते हैं। तीसरा "सामान्यतोदृष्ट" जो कोई किसी का कार्य कारण न हो परन्तु किसी प्रकार का साधर्म्य एक दूसरे के साथ हो जैसे कोई भी विना चले दूसरे स्थान को नहीं जा सकता वैसे ही दूसरों का भी स्थानान्तर में जाना विना गमन के कभी नहीं हो सकता। अनुमान शब्द का अर्थ यही है कि "अनु अर्थात् प्रत्यक्षस्य पश्चान्मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्" जो प्रत्यक्ष के पश्चात् उत्पन्न हो जैसे धूम के प्रत्यक्ष देखे विना अदृष्ट अग्नि का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

तीसरा उपमान—

प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ॥ न्याय० । अ० १ । आ० १ । सू० ६ ॥

जो प्रसिद्ध प्रत्यक्ष साधर्म्य से साध्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य ज्ञान का सिद्धि करने का साधन हो उसको उपमान कहते हैं। "उपमीयते येन तदुपमानम्" जैसे किसी ने किसी भृत्य से कहा

* और पाप पुण्य के आचरण का, सुख दुःख देख के ज्ञान होता है ॥

कि "तू विष्णुमित्र को बुलाला" वह बोला कि "मैंने उसको कभी नहीं देखा" उसके स्वामी ने कहा कि "जैसा यह देवदत्त है वैसा ही वह विष्णुमित्र है" वा जैसी यह गाय है वैसी ही गवय अर्थात् नीलगाय होती है, जब वह वहां गया और देवदत्त के सदृश उसको देख निश्चय कर लिया कि यही विष्णुमित्र है उसको ले आया। अथवा किसी जङ्गल में जिस पशु को गाय के तुल्य देखा उसको निश्चय कर लिया कि इसी का नाम गवय है ॥

चौथा शब्दप्रमाण—

आप्तोपदेशः शब्दः ॥ न्या० । अ० १ । आ० १ । सू० ७ ॥

जो आप्त अर्थात् पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकारप्रिय, सत्यवादी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय पुरुष जैसा अपने आत्मा में जानता हो और जिससे सुख पाया हो उसी के कथन की इच्छा से प्रेरित सः मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो अर्थात् [जो] जितने पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों क ज्ञान प्राप्त होकर उपदेष्टा होता है। जो ऐसे पुरुष और पूर्ण आप्त परमेश्वर के उपदेश वेद हैं उन्हीं के शब्दप्रमाण जानो ॥

पांचवां ऐतिह्य—

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ॥ न्याय० । अ० २ । आ० २ । सू० १ ॥

जो इतिह अर्थात् इस प्रकार का था उसने इस प्रकार किया अर्थात् किसी के जीवनचरित्र का नाम ऐतिह्य है ॥

छठा अर्थापत्ति—

"अर्थादापद्यते सा अर्थापत्तिः" केनचिदुच्यते "सत्सु घनेषु वृष्टिः सति कारणे कार्य्यं भवतीति किमत्र प्रसज्यते, असत्सु घनेषु वृष्टिरसति कारणे च कार्य्यं न भवति" जैसे किसी ने किसी से कहा कि "बद्दल के होने से वर्षा और कारण के होने से कार्य उत्पन्न होता है" इससे विना कहे यह दूसरी बात सिद्ध होती है कि विना बद्दल वर्षा और विना कारण के कार्य्य कभी नहीं हो सकता ॥

सातवां सम्भव—

"सम्भवति यस्मिन् स सम्भवः" कोई कहे कि "माता पिता के विना सन्तानोत्पत्ति, किसी ने मृतक जिलाये, पहाड़ उठाये, समुद्र मे पत्थर तराये, चन्द्रमा के टुकड़े किये, परमेश्वर का अवतार हुआ, मनुष्य के सींग देखे और बन्ध्या के पुत्र और पुत्री का विवाह किया" इत्यादि सब असम्भव हैं क्योंकि ये सब बातें सृष्टिक्रम से विरुद्ध हैं। और जो बात सृष्टिक्रम के अनुकूल हो वही सम्भव है ॥

आठवां अभाव—

"न भवन्ति यस्मिन् सोऽभावः" जैसे किसी ने किसी से कहा कि "हाथी ले आ" वह वहां हाथी का अभाव देखकर जहां हाथी था वहां से ले आया। ये आठ प्रमाण। इनमें से जो शब्द में ऐतिह्य और अनुमान में अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव की गणना करें तो चार प्रमाण रह जाते हैं। इन पांच प्रकार की परीक्षाओं से सत्यासत्य का निश्चय मनुष्य कर सकता है अन्यथा नहीं ॥

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ वैशेषिक । अ० १ । आ० १ । सू० ४ ॥

जब मनुष्य धर्म के यथायोग्य अनुष्ठान करने से पवित्र होकर "साधर्म्य" अर्थात् जो तुल्य धर्म हैं जैसा पृथिवी जड़ और जल भी जड़ "वैधर्म्य" अर्थात् पृथिवी कठोर और जल कोमल, इसी प्रकार से द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छः पदार्थों के तत्वज्ञान से अर्थात् स्वरूपज्ञान से "निःश्रेयसम्" मोक्ष को प्राप्त होता है ॥

पृथिव्याऽपस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥ वै० । अ० १ । आ० १ । सू० ५ ॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव द्रव्य हैं ॥

क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥ वै० । अ० १ । आ० १ । सू० १५ ॥

"क्रियाश्च गुणाश्च विद्यन्ते यस्मिंस्तत् क्रियागुणवत्" जिसमें क्रियागुण और केवल गुण रहें उसको द्रव्य कहते हैं। उनमें से पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन और आत्मा ये छः द्रव्य क्रिया और गुणवाले हैं। तथा आकाश, काल और दिशा ये तीन क्रियारहित गुणवाले हैं। (समवायि) "समवेतुं शीलं यस्य तत् समवायि, प्राग्वृत्तित्वं कारणं समवायि च तत्कारणं च समवायिकारणम्" "लक्ष्यते येन तल्लक्षणम्" जो मिलने के स्वभावयुक्त कार्य से कारण पूर्वकालस्थ हो उसी को द्रव्य कहते हैं जिससे लक्ष्य जाना जाय जैसा आंख से रूप जाना जाता है उसको लक्षण कहते हैं ॥

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी ॥ वै० । अ० २ । आ० १ । सू० १ ॥

रूप, रस, गन्ध, स्पर्शवाली पृथिवी है। उसमें रूप, रस और स्पर्श अग्नि, जल और वायु के योग से हैं ॥

व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः ॥ वै० । अ० २ । आ० २ । सू० २ ॥

पृथिवी में गन्ध गुण स्वाभाविक है। वैसे ही जल में रस, अग्नि में रूप, वायु में स्पर्श और आकाश में शब्द स्वाभाविक है ॥

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ॥ वै० । अ० २ । आ० १ । सू० २ ॥

रूप, रस और स्पर्शवान् द्रवीभूत और कोमल जल कहाता है। परन्तु इनमें जल का रस स्वाभाविक गुण तथा रूप स्पर्श अग्नि और वायु के योग से हैं ॥

अप्सु शीतता ॥ वै० । अ० २ । आ० २ । सू० ५ ॥

और जल में शीतलत्व गुण भी स्वाभाविक है ॥

तेजो रूपस्पर्शवत् ॥ वै० । अ० २ । आ० १ । सू० ३ ॥

जो रूप और स्पर्शवाला है वह तेज है। परन्तु इसमें रूप स्वाभाविक और स्पर्श वायु के योग से है ॥

स्पर्शवान् वायुः ॥ वै० । अ० २ । आ० १ । सू० ४ ॥

स्पर्श गुणवाला वायु है। परन्तु इसमें भी उष्णता, शीतलता, तेज और जल के योग से रहते हैं ॥

त आकाशे न विद्यन्ते ॥ वै० [अ० २ । आ० १ । सू० ५]

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आकाश में नहीं हैं। किन्तु शब्द ही आकाश का गुण है ॥

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम् ॥ वै० । अ० २ । आ० १ । सू० २० ॥

जिसमें प्रवेश और निकलना होता है वह आकाश का लिङ्ग है ॥

कार्य्यान्तराप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः ॥ वै० । अ० २ । आ० १ । सू० २५ ॥

अन्य पृथिवी आदि कार्यों से प्रकट न होने से शब्द स्पर्श गुणवाले भूमि आदि का गुण नहीं है किन्तु शब्द आकाश ही का गुण है ॥

अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि ॥ वै० । अ० २ । आ० २ । सू० ६ ॥

जिसमें अपर पर (युगपत्) एकवार (चिरम्) विलम्ब (क्षिप्रम्) शीघ्र इत्यादि प्रयोग होते हैं उसको काल कहते हैं ॥

जो द्रव्य और गुण का समान जातीयक कार्य्य का आरम्भ होता है उसको साधर्म्य कहते हैं। जैसे पृथिवी में जड़त्व धर्म और घटादि कार्योत्पादकत्व स्वसदृश धर्म है वैसे ही जल में भी जड़त्व और हिम आदि स्वसदृश कार्य का आरम्भ पृथिवी के साथ जल का और जल के साथ पृथिवी का तुल्य धर्म है अर्थात् "द्रव्यगुणयोर्विजातीयारम्भकत्वं वैधर्म्यम्" यह विदित हुआ है कि जो द्रव्य और गुण का विरुद्ध धर्म और कार्य्य का आरम्भ है उसको वैधर्म्य कहते हैं जैसे पृथिवी में कठिनत्व शुष्कत्व और गन्धवत्व धर्म जल से विरुद्ध और जल का द्रवत्व कोमलता और रस गुणयुक्तता पृथिवी से विरुद्ध है ॥

कारणभावात्कार्यभावः ॥ वै० । अ० ४ । आ० १ । सू० ३ ॥

कारण के होने ही से कार्य्य होता है ॥

न तु कार्याभावात्कारणाभावः ॥ वै० । अ० १ । आ० २ । सू० २ ॥

कार्य के अभाव से कारण का अभाव नहीं होता ॥

कारणाऽभावात्कार्याऽभावः ॥ वै० । अ० १ । आ० २ । सू० १ ॥

कारण के न होने से कार्य कभी नहीं होता ॥

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ॥ वै० । अ० २ । आ० १ । सू० २४ ॥

जैसे कारण में गुण होते हैं वैसे ही कार्य्य में होते हैं। परिमाण दो प्रकार का है:—

अणु महदिति तस्मिन्विशेषभावाद्विशेषाभावाच्च ॥ वै० । अ० ७ । आ० १ । सू० ११ ॥

(अणु) सूक्ष्म (महत्) बड़ा जैसे त्रसरेणु लिक्षा से छोटा और द्व्यणुक से बड़ा है तथा पहाड़ पृथिवी से छोटे वृक्षों से बड़े हैं ॥

सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ॥ वै० । अ० १ । आ० २ । सू० ७ ॥

जो द्रव्य गुण और कर्मों में सत् शब्द अन्वित रहता है अर्थात् "सद् द्रव्यम्—सद् गुणः—सत्कर्म" सत् द्रव्य, सत् गुण, सत् कर्म अर्थात् वर्त्तमान कालवाची शब्द का अन्वय सब के साथ रहता है ॥

भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात्सामान्यमेव ॥ वै० । अ० १ । आ० २ । सू० ४ ॥

जो सब के साथ अनुवर्त्तमान होने से सत्तारूप भाव है सो महासामान्य कहाता है यह क्रम भावरूप द्रव्यों का है और जो अभाव है वह पांच प्रकार का होता है ॥

क्रियागुणव्यपदेशाभावात्प्रागसत् ॥ वै० । अ० ९ । आ० १ । सू० १ ॥

क्रिया और गुण के विशेष निमित्त के अभाव से प्राक् अर्थात् पूर्व (असत्) न था जैसे घट, वस्त्रादि उत्पत्ति के पूर्व नहीं थे इसका नाम प्रागभाव ॥ दूसरा:—

सदसत् ॥ वै० । अ० ९ । आ० १ । सू० २ ॥

जो होके न रहे जैसे घट उत्पन्न होके नष्ट होजाय यह प्रध्वंसाभाव कहाता है ॥ तीसरा:—

सच्चासत् ॥ वै० । अ० ९ । आ० १ । सू० ४ ॥

जो होवे और न होवे जैसे "अगौरश्वोऽनश्वो गौः" यह घोड़ा गाय नहीं और गाय घोड़ा नहीं अर्थात् घोड़े में गाय का और गाय में घोड़े का अभाव और गाय में गाय, घोड़े में घोड़े का भाव है। यह अन्योन्याभाव कहाता है ॥ चौथा:—

यच्चान्यदसदतस्तदसत् ॥ वै० । अ० ६ । आ० १ । सू० ५ ॥

जो पूर्वोक्त तीनों अभावों से भिन्न है उसको अत्यन्ताभाव कहते हैं । जैसे—"नरशृङ्ग" अर्थात् मनुष्य का सींग "खपुष्प" आकाश का फूल और "वन्ध्यापुत्र" वन्ध्या का पुत्र इत्यादि ॥ पांचवां—

नास्ति घटो गेह इति सतो घटस्य गेहसंसर्गप्रतिषेधः ॥ वै० । अ० ६ । आ० १ । सू० १० ॥

घर में घड़ा नहीं अर्थात् अन्यत्र है, घर के साथ घड़े का सम्बन्ध नहीं है, ये पांच अभाव कहाते हैं ॥

इन्द्रियदोषात्संस्कारदोषाच्चाविद्या ॥ वै० । अ० ६ । आ० २ । सू० १० ॥

इन्द्रियों और संस्कार के दोष से अविद्या उत्पन्न होती है ॥

तद्दुष्टज्ञानम् ॥ वै० । अ० ६ । आ० २ । सू० ११ ॥

जो दुष्ट अर्थात् विपरीत ज्ञान है उसको अविद्या कहते हैं ॥

अदुष्टं विद्या ॥ वै० । अ० ६ । आ० २ । सू० १२ ॥

जो अदुष्ट अर्थात् यथार्थ ज्ञान है उसको विद्या कहते हैं ॥

पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च ॥ वै० । अ० ७ । आ० १ । सू० २ ॥

एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम् ॥ वै० । अ० ७ । आ० १ । सू० ३ ॥

जो कार्यरूप पृथिव्यादि पदार्थ और उनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श गुण हैं ये सब द्रव्यों के अनित्य होने से अनित्य हैं और जो इससे कारणरूप पृथिव्यादि नित्य द्रव्यों में गन्धादि गुण हैं वे नित्य हैं ॥

सदकारणवन्नित्यम् ॥ वै० । अ० ४ । आ० १ । सू० १ ॥

जो विद्यमान हो और जिसका कारण कोई भी न हो वह नित्य है अर्थात्—"सत्कारणवदनित्यम्" जो कारणवाले कार्यरूप गुण हैं वे अनित्य कहाते हैं ॥

यस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम् ॥ वै० । अ० ६ । आ० २ । सू० १ ॥

इसका यह कार्य वा कारण है इत्यादि समवायि, संयोगि, एकार्थसमवायि और विरोधि यह चार प्रकार का लैङ्गिक अर्थात् लिङ्गलिङ्गी के सम्बन्ध से ज्ञान होता है । "समवायि" जैसे आकाश परिमाणवाला है "संयोगि" जैसे शरीर त्वचावाला है इत्यादि का नित्य संयोग है "एकार्थसमवायि" एक अर्थ में दो का रहना जैसे कार्यरूप स्पर्श कार्य का लिङ्ग अर्थात् जाननेवाला है "विरोधि" जैसे हुई वृष्टि होनेवाली वृष्टि का विरोधी लिङ्ग है "व्याप्ति":—

नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः ॥ निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः ॥

आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः ॥ सांख्यसूत्र ॥ [अ० ५] २९ । ३१ । ३२]

जो दोनों साध्य साधन अर्थात् सिद्ध करने योग्य और जिससे सिद्ध किया जाय उन दोनों अथवा एक, साधनमात्र का निश्चित धर्म का सहचार है उसी को व्याप्ति कहते हैं जैसे धूम और अग्नि का सहचार है ॥ २९ ॥ तथा व्याप्य जो धूम उसकी निज शक्ति से उत्पन्न होता है अर्थात् जब देशान्तर में दूर धूम जाता है तब विना अग्नियोग के भी धूम स्वयं रहता है । उसी का नाम व्याप्ति है अर्थात् अग्नि के छेदन, भेदन, सामर्थ्य से जलादि पदार्थ धूमरूप प्रकट होता है ॥ ३१ ॥ जैसे महत्तत्त्वादि में प्रकृत्यादि की व्यापकता बुद्ध्यादि में व्याप्यता धर्म के सम्बन्ध का नाम व्याप्ति है । जैसे शक्तिरूप और शक्तिमान् आधाररूप का सम्बन्ध है ॥ ३२ ॥ इत्यादि शास्त्रों के प्रमाणादि से परीक्षा

पढ़ें और पढ़ावें । अन्यथा विद्यार्थियों को सत्य बोध कभी नहीं हो सकता जिस २ ग्रन्थ को पढ़ावें उस २ की पूर्वोक्त प्रकार से परीक्षा करके जो सत्य ठहरे वह २ ग्रन्थ पढ़ावें जो २ इन परीक्षाओं से विरुद्ध हों उन २ ग्रन्थों को न पढ़ें न पढ़ावें क्योंकि:—

लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः ॥

लक्षण जैसा कि "गन्धवती पृथिवी" जो पृथिवी है वह गन्धवाली है ऐसे लक्षण और प्रत्यक्षादि प्रमाण इनसे सब सत्याऽसत्य और पदार्थों का निर्णय हो जाता है इसके बिना कुछ भी नहीं होता ॥

अथ पठनपाठनविधिः ॥

अब पढ़ने पढ़ाने का प्रकार लिखते हैं—प्रथम पाणिनिमुनिकृत शिक्षा जो कि सूत्ररूप है उसव रीति अर्थात् इस अक्षर का यह स्थान यह प्रयत्न यह करण है जैसे "प" इसका ओष्ठ स्थान स्पृ प्रयत्न और प्राण तथा जीभ की क्रिया करनी करण कहाता है इसी प्रकार यथायोग्य सब अक्षरों क उच्चारण माता पिता आचार्य सिखलावें । तदनन्तर व्याकरण अर्थात् प्रथम अष्टाध्यायी के सूत्रों क पाठ जैसे "वृद्धिरादैच्" फिर पदच्छेद जैसे "वृद्धिः, आत्, ऐच् वा आदैच्" फिर समास "आच्च ऐच्च आदैच्" और अर्थ जैसे "आदैचां वृद्धिसंज्ञा क्रियते" अर्थात् आ, ऐ, औ की वृद्धि संज्ञा [कीजाती है "तः परो यस्मात्स तपरस्तादपि परस्तपरः" तकार जिससे परे और जो तकार से भी परे हो वः तपर कहाता है इससे क्या सिद्ध हुआ जो आकार से परे त् और त् से परे ऐच् दोनों तपर हैं तप का प्रयोजन यह है कि ह्रस्व और प्लुत की वृद्धि संज्ञा न हुई । उदाहरण (भागः) यहां "भज्" धातु से "घञ्" प्रत्यय के परे "घ, ञ्" की इत्संज्ञा होकर लोप होगया पश्चात् "भज् अ" यहां जकार के पूर्व भकारोत्तर अकार को वृद्धिसंज्ञक आकार होगया है। तो भाज् पुनः "ज्" को ग् हो अकार के साथ मिलके "भागः" ऐसा प्रयोग हुआ । "अध्यायः" यहां अधिपूर्वक "इङ्" धातु के ह्रस्व इ के स्थान में "घञ्" प्रत्यय के परे "ऐ" वृद्धि और उसको आय् हो मिल के "अध्यायः" । "नायकः" यहां "नीञ्" धातु के दीर्घ ईकार के स्थान में "ण्वुल्" प्रत्यय के परे "ऐ" वृद्धि और उसको आय् होकर मिल के "नायकः" । और "स्तावकः" यहां "स्तु" धातु से "ण्वुल्" प्रत्यय होकर ह्रस्व उकार के स्थान में औ वृद्धि आव् आदेश होकर अकार में मिल गया तो "स्तावकः" । (कृञ्) धातु से आगे "ण्वुल्" प्रत्यय ल् की इत्संज्ञा होके लोप "वु" के स्थान मे अक आदेश और ऋकार के स्थान में "आर्" वृद्धि होकर "कारकः" सिद्ध हुआ । जो २ सूत्र आगे पीछे के प्रयोग में लगें उनका कार्य सब बतलाता जाय और स्लेट अथवा लकड़ी के पट्टे पर दिखला २ के कच्चा रूप धर के जैसे "भज्+घञ्+सु" इस प्रकार धर के प्रथम घकार का फिर ञ् का लोप होकर "भज्+अ+सु" ऐसा रहा फिर अ को आकार वृद्धि और ज् के स्थान मे "ग्" होने से "भाग्+अ+सु" पुनः अकार में मिल जाने से "भाग+सु" रहा, अब उकार की इत्संज्ञा "स्" के स्थान मे "रु" होकर पुनः उकार की इत्संज्ञा लोप होजाने पश्चात् "भागर्" ऐसा रहा अब रेफ के स्थान में (:) विसर्जनीय होकर "भागः" यह रूप सिद्ध हुआ । जिस २ सूत्र से जो २ कार्य होता है उस उसको पढ़ पढ़ा के और लिखवा कर कार्य कराता जाय इस प्रकार पढ़ने पढ़ाने से बहुत शीघ्र दृढ़ बोध होता है। एक वार इसी प्रकार अष्टाध्यायी पढ़ा के धातुपाठ अर्थसहित और दश लकारों के रूप तथा प्रक्रिया सहित सूत्रों के उत्सर्ग अर्थात् सामान्य सूत्र जैसे "कर्मण्यण्" कर्म उपपद लगा हो तो धातुमात्र से अण् प्रत्यय हो जैसे "कुम्भकारः" पश्चात् अपवाद सूत्र जैसे 'आतोऽनुपसर्गे कः" उपसर्गभिन्न कर्म उपपद लगा हो तो आकारान्त धातु से "क" प्रत्यय होवे अर्थात् जो बहुव्यापक जैसा कि कर्मोपपद लगा हो तो सब

धातुओं से "अण्" प्राप्त होता है उससे विशेष अर्थात् अल्प विषय उसी पूर्व सूत्र के विषय में से आकारान्त धातु को "क" प्रत्यय ने ग्रहण कर लिया जैसे उत्सर्ग के विषय में अपवाद सूत्र की प्रवृत्ति होती है वैसे अपवाद सूत्र के विषय मे उत्सर्ग सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे चक्रवर्ती राजा के राज्य मे माण्डलिक और भूमिवालो की प्रवृत्ति होती है वैसे माण्डलिक राजादि के राज्य में चक्रवर्ती की प्रवृत्ति नहीं होती इसी प्रकार पाणिनि महर्षि ने सहस्र श्लोको के बीच में अखिल शब्द अर्थ और सम्बन्धो की विद्या प्रतिपादित करदी है। धातुपाठ के पश्चात् उणादिगण के पढ़ाने मे सर्व सुबन्त का विषय अच्छे प्रकार पढ़ा के पुनः दूसरी वार शङ्का, समाधान, वार्त्तिक, कारिका, परिभाषा की घटना-पूर्वक, अष्टाध्यायी की द्वितीयानुवृत्ति पढ़ावे। तदनन्तर महाभाष्य पढ़ावे। अर्थात् जो बुद्धिमान् पुरुषार्थी, निष्कपटी, विद्यावृद्धि के चाहनेवाले नित्य पढ़ें पढ़ावें तो डेढ़ वर्ष में अष्टाध्यायी और डेढ़ वर्ष में महाभाष्य पढ़ के तीन वर्ष में पूर्ण वैयाकरण होकर वैदिक और लौकिक शब्दो का व्याकरण से बोध कर पुनः अन्य शास्त्रो को शीघ्र सहज में पढ़ पढ़ा सकते हैं। किन्तु जैसा बड़ा परिश्रम व्याकरण में होता है वैसा श्रम अन्य शास्त्रो मे करना नहीं पड़ता और जितना बोध इनके पढ़ने से तीन वर्षों में होता है उतना बोध कुग्रन्थ अर्थात् सारस्वत, चन्द्रिका, कौमुदी, मनोरमादि के पढ़ने से पचास वर्षों में भी नहीं हो सकता। क्योंकि जो महाशय महर्षि लोगो ने सहजता से महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है वैसा इन क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थो में क्योंकर हो सकता है। महर्षि लोगों का आशय, जहांतक होसके वहांतक सुगम और जिसके ग्रहण में समय थोड़ा लगे इस प्रकार का होता है और क्षुद्राशय लोगो की मनसा ऐसी होती है कि जहांतक बने वहांतक कठिन रचना करनी जिसको बड़े परिश्रम से पढ़ के अल्प लाभ उठा सके जैसे पहाड़ का खोदना कौड़ी का लाभ होना। और आर्ष ग्रन्थो का पढ़ना ऐसा है कि जैसा एक गोता लगाना बहुमूल्य मोतिया का पाना व्याकरण को पढ़ के यास्कमुनिकृत निघण्टु और निरुक्त छः वा आठ महीने में सार्थक पढ़े और पढ़ावें। अन्य नास्तिककृत अमरकोशादि मे अनेक वर्ष व्यर्थ न खोवे। तदनन्तर पिङ्गलाचार्यकृत छन्दोग्रन्थ जिससे वैदिक लौकिक छन्दों का परिज्ञान, नवीन रचना और श्लोक बनाने की रीति भी यथावत् सीखें। इस ग्रन्थ और श्लोकों की रचना तथा प्रस्तार को चार महीने में सीख पढ़ पढ़ा सकते हैं। और वृत्तरत्नाकर आदि अल्पबुद्धिप्रकल्पित ग्रन्थों में अनेक वर्ष न खोवे। तत्पश्चात् मनुस्मृति, वाल्मीकीय रामायण और महाभारत के उद्योगपर्वान्तर्गत विदुरनीति आदि अच्छे २ प्रकरण जिनसे दुष्ट व्यसन दूर हों और उत्तमता सभ्यता प्राप्त हो वैसे को काव्यरीति से अर्थात् पदच्छेद, पदार्थोक्ति, अन्वय, विशेष्य विशेषण और भावार्थ को अध्यापक लोग जनावे और विद्यार्थी लोग जानते जाये। इनको वर्ष के भीतर पढ़लें। तदनन्तर पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त अर्थात् जहांतक बन सके वहांतक ऋषिकृत व्याख्यासहित अथवा उत्तम विद्वानो की सरलव्याख्यायुक्त छः शास्त्रो को पढ़े पढ़ावें। परन्तु वेदान्त सूत्रों के पढ़ने के पूर्व ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक इन दश उपनिषदो को पढ़ के छः शास्त्रों के भाष्य वृत्तिसहित सूत्रों को दो वर्ष के भीतर पढ़ावे और पढ़ लेवे। पश्चात् छः वर्षो के भीतर चारो ब्राह्मण अर्थात् ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ब्राह्मणों के सहित चारो वेदो के स्वर, शब्द, अर्थ, सम्बन्ध तथा क्रियासहित पढ़ना योग्य है। इसमे प्रमाणः—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥ [निरुक्त १ । १८]

यह निरुक्त में मन्त्र है। जो वेद को स्वर और पाठमात्र पढ़ के अर्थ नहीं जानता वह जैसा वृक्ष, डाली, पत्ते, फल, फूल और अन्य पशु धान्य आदि का भार उठाता है वैसे भारवाह अर्थात् भार का उठानेवाला है और जो वेद को पढ़ता और उनका यथावत् अर्थ जानता है वही सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होके देहान्त के पश्चात् ज्ञान से पापों को छोड़ पवित्र धर्माचरण के प्रताप से सर्वानन्द को प्राप्त होता है॥

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं१ विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥ ऋ०॥ मं० १०। सू० ७१। मं० ४॥

जो अविद्वान् हैं वे सुनते हुए नहीं सुनते, देखते हुए नहीं देखते, बोलते हुए नहीं बोलते अर्थात् अविद्वान् लोग इस विद्या वाणी के रहस्य को नहीं जान सकते किन्तु जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध का जाननेवाला है उसके लिये विद्या जैसे सुन्दर वस्त्र आभूषण धारण करती अपने पति की कामना करती हुई स्त्री अपना शरीर और स्वरूप का प्रकाश पति के सामने करती है वैसे विद्या विद्वान् के लिये अपने स्वरूप का प्रकाश करती है अविद्वानों के लिये नहीं॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ ऋ०॥ मं० १। सू० १६४। मं० ३९॥

जिस व्यापक अविनाशी सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर में सब विद्वान् और पृथिवी सूर्य आदि सब लोक स्थित हैं कि जिसमें सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है उस ब्रह्म को जो नहीं जानता वह ऋग्वेदादि से क्या कुछ सुख को प्राप्त हो सकता है? नहीं २ किन्तु जो वेदों को पढ़ के धर्मात्मा योगी होकर उस ब्रह्म को जानते हैं वे सब परमेश्वर में स्थित होके मुक्तिरूपी परमानन्द को प्राप्त होते हैं। इसलिये जो कुछ पढ़ना वा पढ़ाना हो वह अर्थज्ञान सहित चाहिये। इस प्रकार सब वेदों को पढ़ के आयुर्वेद अर्थात् जो चरक, सुश्रुत आदि ऋषि मुनिप्रणीत वैद्यक शास्त्र है उसको अर्थ, क्रिया, शस्त्र, छेदन, भेदन, लेप, चिकित्सा, निदान, औषध, पथ्य, शरीर, देश, काल और वस्तु के गुण ज्ञानपूर्वक ४ (चार) वर्ष के भीतर पढ़ें पढ़ावें। तदनन्तर धनुर्वेद अर्थात् जो राजसम्बन्धी काम करना है इसके दो भेद एक निज राजपुरुषसम्बन्धी और दूसरा प्रजासम्बन्धी होता है। राजकार्य में सभा सेना के अध्यक्ष शस्त्रास्त्रविद्या नाना प्रकार के व्यूहों का अभ्यास अर्थात् जिसको आजकल "कवायद" कहते हैं जो कि शत्रुओं से लड़ाई के समय में क्रिया करनी होती है उनको यथावत् सीखें और जो २ प्रजा के पालन और वृद्धि करने का प्रकार है उनको सीख के न्यायपूर्वक सब प्रजा को प्रसन्न रक्खें दुष्टों को यथायोग्य दण्ड श्रेष्ठों के पालन का प्रकार सब प्रकार सीखलें। इस राजविद्या को दो २ वर्ष में सीखकर गान्धर्ववेद कि जिसको गानविद्या कहते हैं उसमें स्वर, राग, रागिणी, समय, ताल, ग्राम, तान, वादित्र, नृत्य, गीत आदि को यथावत् सीखें परन्तु मुख्य करके सामवेद का गान वादित्रवादनपूर्वक सीखें और नारदसंहिता आदि जो २ आर्ष ग्रन्थ हैं उनको पढ़ें परन्तु भड़ुवे वेश्या और विषयासक्तिकारक वैरागियों के गर्दभशब्दवत् व्यर्थ आलाप कभी न करें। अर्थवेद कि जिसको शिल्पविद्या कहते हैं उसको पदार्थ गुण विज्ञान क्रियाकौशल नानाविध पदार्थों का निर्माण पृथिवी से लेके आकाश पर्यन्त की विद्या को यथावत् सीख के अर्थ अर्थात् जो ऐश्वर्य को बढ़ानेवाला है उस विद्या को सीख के दो वर्ष में ज्योतिष्शास्त्र सूर्यसिद्धान्तादि जिसमें बीजगणित, अङ्क, भूगोल, खगोल और भूगर्भविद्या है इसको यथावत् सीखें। तत्पश्चात् सब प्रकार की हस्तक्रिया, यन्त्रकला आदि को सीखें परन्तु जितने ग्रह, नक्षत्र, जन्मपत्र, राशि, मुहूर्त आदि के

फल के विधायक ग्रन्थ हैं उनको झूठ समझ के कभी न पढ़ें और पढ़ावें ऐसा प्रयत्न पढ़ने और पढ़ानेवाले करें कि जिससे वीस वा इक्कीस वर्ष के भीतर समग्र विद्या उत्तम शिक्षा प्राप्त होके मनुष्य लोग कृतकृत्य होकर सदा आनन्द में रहें जितनी विद्या इस रीति से बीस वा इक्कीस वर्षों में हो सकती है उतनी अन्य प्रकार से शतवर्ष में भी नहीं हो सकती ॥

ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को इसलिये पढ़ना चाहिये कि वे बड़े विद्वान् सब शास्त्रवित् और धर्मात्मा थे और अनृषि अर्थात् जो अल्प शास्त्र पढ़े हैं और जिनका आत्मा पक्षपातसहित है उनके बनाये हुए ग्रन्थ भी वैसे ही हैं ॥

पूर्वमीमांसा पर व्यासमुनिकृत व्याख्या, वैशेषिक पर गौतममुनिकृत, न्यायसूत्र पर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य, पतञ्जलिमुनिकृत सूत्र पर व्यासमुनिकृत भाष्य, कपिलमुनिकृत सांख्यसूत्र पर भागुरिमुनिकृत भाष्य, व्यासमुनिकृत वेदान्तसूत्र पर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य अथवा बौधायनमुनिकृत भाष्य वृत्तिसहित पढ़ें पढ़ावें इत्यादि सूत्रों को कल्प अङ्ग में भी गिनना चाहिये जैसे ऋग्यजु, साम और अथर्व चारों वेद ईश्वरकृत हैं वैसे ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ चारों ब्राह्मण, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निघण्टु, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष् छः वेदो के अङ्ग, मीमांसादि छः शास्त्र वेदों के उपाङ्ग, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद ये चार वेदों के उपवेद इत्यादि सब ऋषि मुनि के किये ग्रन्थ हैं इनमें भी जो २ वेदविरुद्ध प्रतीत हो उस २ को छोड़ देना क्योंकि वेद ईश्वरकृत होने से निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाण अर्थात् वेद का प्रमाण वेद ही से होता है ब्राह्मणादि सब ग्रन्थ परतःप्रमाण अर्थात् इनका प्रमाण वेदाधीन है वेद की विशेष व्याख्या ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में देख लीजिये और इस ग्रन्थ में भी आगे लिखेंगे ॥

अब जो परित्याग के योग्य ग्रन्थ हैं उनका परिगणन संक्षेप से किया जाता है अर्थात् जो २ नीचे ग्रन्थ लिखेंगे वह २ जालग्रन्थ समझना चाहिये। व्याकरण में कातन्त्र, सारस्वत, चन्द्रिका, मुग्धबोध, कौमुदी, शेखर, मनोरमादि। कोश में अमरकोशादि। छन्दोग्रन्थ में वृत्तरत्नाकरादि। शिक्षा में अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा इत्यादि। ज्योतिष् में शीघ्रबोध, मुहूर्त्तचिन्तामणि आदि। काव्य में नायिकाभेद, कुवलयानन्द, रघुवंश, माघ, किरातार्जुनीयादि। मीमांसा में धर्मसिन्धु, व्रतार्कादि। वैशेषिक में तर्कसंग्रहादि। न्याय में जागदीशी आदि। योग में हठप्रदीपिकादि। सांख्य में सांख्यतत्त्वकौमुद्यादि। वेदान्त में योगवासिष्ठ पञ्चदश्यादि। वैद्यक में शार्ङ्गधरादि। स्मृतियों में मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और अन्य सब स्मृति, सब तंत्र ग्रन्थ, सब पुराण, सब उपपुराण, तुलसीदासकृत भाषारामायण, रुक्मिणीमङ्गलादि और सर्व भाषाग्रन्थ ये सब कपोलकल्पित मिथ्या ग्रन्थ हैं। (प्रश्न) क्या इन ग्रन्थों में कुछ भी सत्य नहीं? (उत्तर) थोड़ा सत्य तो है परन्तु इसके साथ बहुतसा असत्य भी है इससे "विषसम्पृक्तान्नवत् त्याज्याः" जैसे अत्युत्तम अन्न विष से युक्त होने से छोड़ने योग्य होता है वैसे ये ग्रन्थ हैं। (प्रश्न) क्या आप पुराण इतिहास को नहीं मानते? (उत्तर) हां मानते हैं परन्तु सत्य को मानते हैं मिथ्या को नहीं (प्रश्न) कौन सत्य और कौन मिथ्या है? (उत्तर):—

ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति ॥

यह गृह्यसूत्रादि का वचन है। जो ऐतरेय, शतपथादि, ब्राह्मण लिख आये उन्हीं के इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी पांच नाम हैं श्रीमद्भागवतादि का नाम पुराण नहीं (प्रश्न) जो त्याज्य ग्रन्थो मे सत्य है उसका ग्रहण क्यों नहीं करते? (उत्तर) जो २ उनमें सत्य है सो २ वेदादि सत्य शास्त्रों का है और मिथ्या उनके घर का है। वेदादि सत्य शास्त्रों के स्वीकार में सब सत्य का होजाता है। जो कोई इन मिथ्या ग्रन्थों से सत्य का ग्रहण करना चाहे तो मिथ्या भी उसके गले

जावे। इसलिये "असत्यमिश्रं सत्यं दूरतस्त्याज्यमिति" असत्य से युक्त ग्रन्थस्थ सत्य को भी वै छोड़ देना चाहिये जैसे विषयुक्त अन्न को। (प्रश्न) तुम्हारा मत क्या है ? (उत्तर) वेद अर्थात् जो वेद में करने और छोड़ने की शिक्षा की है उस २ का हम यथावत् करना छोड़ना मानते हैं। जिसलि वेद हमको मान्य है इसलिये हमारा मत वेद है। ऐसा ही मानकर सब मनुष्यों को विशेष आर्य्यों व ऐकमत्य होकर रहना चाहिये (प्रश्न) जैसा सत्यासत्य और दूसरे ग्रन्थों का परस्पर विरोध है वै अन्य शास्त्रों में भी है जैसा सृष्टिविषय में छः शास्त्रों का विरोध है:—मीमांसा कर्म, वैशेषिक काल न्याय परमाणु, योग पुरुषार्थ, सांख्य प्रकृति और वेदान्त ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानता है क्या य विरोध नहीं है ? (उत्तर) प्रथम तो विना सांख्य और वेदान्त के दूसरे चार शास्त्रों में सृष्टि व उत्पत्ति प्रसिद्ध नहीं लिखी और इनमें विरोध नहीं क्योंकि तुमको विरोधाविरोध का ज्ञान नहीं। तुमसे पूछता हूं कि विरोध किस स्थल में होता है ? क्या एक विषय में अथवा भिन्न २ विषयों में (प्रश्न) एक विषय में अनेकों का परस्पर विरुद्ध कथन हो उसको विरोध कहते हैं यहां भी सृष्टि ए ही विषय है (उत्तर) क्या विद्या एक है वा दो, एक है, जो एक है तो व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिष् आ का भिन्न २ विषय क्यों है जैसा एक विद्या में अनेक विद्या के अवयवों का एक दूसरे से भिन्न प्रतिप दन होता है वैसे ही सृष्टिविद्या के भिन्न भिन्न छः अवयवो का शास्त्रों में प्रतिपादन करने से इनमें कु भी विरोध नही जैसे घड़े के बनाने में कर्म, समय, मिट्टी, विचार, संयोग, वियोगादि का पुरुषार्थ, प्रकृ के गुण और कुँभार कारण है वैसे ही सृष्टि का जो कर्म कारण है उसकी व्याख्या मीमांसा में, सम की व्याख्या वैशेषिक में, उपादान कारण की व्याख्या न्याय मे, पुरुषार्थ की व्याख्या योग में, तत्त्वों वे अनुक्रम से परिगणन की व्याख्या सांख्य में और निमित्तकारण जो परमेश्वर है उसकी व्याख्या वेदान्त शास्त्र में है। इससे कुछ भी विरोध नही। जैसे वैद्यकशास्त्र मे निदान, चिकित्सा, औषधि, दान औ पथ्य के प्रकरण भिन्न २ कथित हैं परन्तु सब का सिद्धान्त रोग की निवृत्ति है वैसे ही सृष्टि के छ कारण हैं इनमें से एक २ कारण की व्याख्या एक २ शास्त्रकार ने की है इसलिये इनमे कुछ भी विरोध नहीं इसकी विशेष व्याख्या सृष्टिप्रकरण में कहेंगे ॥

जो विद्या पढ़ने पढ़ाने के विघ्न हैं उनको छोड़ देवें जैसा कुसङ्ग अर्थात् दुष्ट विषयीजनों का संग, दुष्टव्यसन जैसा मद्यादि सेवन और वेश्यागमनादि, बाल्यावस्था में विवाह अर्थात् पच्चीसवें वर्ष से पूर्व पुरुष और सोलहवें वर्ष से पूर्व स्त्री का विवाह होजाना, पूर्ण ब्रह्मचर्य्य न होना, राजा, माता पिता और विद्वानों का प्रेम, वेदादि शास्त्रो के प्रचार में न होना, अतिभोजन, अतिजागरण करना, पढ़ने पढ़ाने परीक्षा लेने वा देने मे आलस्य वा कपट करना, सर्वोपरि विद्या का लाभ न समझना, ब्रह्मचर्य से बल, बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य, राज्य, धन की वृद्धि न मानना, ईश्वर का ध्यान छोड़ अन्य पाषाणादि जड़ मूर्त्ति के दर्शन पूजन में व्यर्थ काल खोना, माता पिता, अतिथि और आचार्य्य, विद्वान् इनको सत्य मूर्त्ति मानकर, सेवा सत्संग न करना, वर्णाश्रम के धर्म को छोड़ ऊर्ध्वपुण्ड्र, त्रिपुण्ड्र, तिलक, कंठी मालाधारण, एकादशी, त्रयोदशी आदि व्रत करना, काश्यादि तीर्थ और राम, कृष्ण, नारायण, शिव भगवती, गणेशादि के नामस्मरण से पाप दूर होने का विश्वास, पाखण्डियों के उपदेश से विद्या पढ़ने में अश्रद्धा का होना, विद्या धर्म योग परमेश्वर की उपासना के विना मिथ्या पुराणनामक भागवतादि की कथादि से मुक्ति का मानना, लोभ से धनादि में प्रवृत्त होकर विद्या में प्रीति न रखना, इधर उधर व्यर्थ घूमते रहना इत्यादि मिथ्या व्यवहारों में फँस के ब्रह्मचर्य्य और विद्या के लाभ से रहित रोगी और मूर्ख बने रहते हैं ॥

आजकल के संप्रदायी और स्वार्थी ब्राह्मण आदि जो दूसरों को विद्या सत्संग से हटा और अपने जाल में फँसा के उनका तन, मन, धन नष्ट कर देते हैं और चाहते हैं कि जो क्षत्रियादि वर्ण पढ़कर विद्वान् हो जायेंगे तो हमारे पाखण्डजाल से छूट और हमारे छल को जानकर हमारा अपमान करेंगे। इत्यादि विघ्नों को राजा और प्रजा दूर करके अपने लड़कों और लड़कियों को विद्वान् करने के लिये तन, मन, धन से प्रयत्न किया करें। (प्रश्न) क्या स्त्री और शूद्र भी वेद पढ़ें ? जो ये पढ़ेंगे तो हम फिर क्या करेंगे ? और इनके पढ़ने में प्रमाण भी नहीं है जैसा यह निषेध है:—

स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः ॥

स्त्री और शूद्र न पढ़ें यह श्रुति है (उत्तर) सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्यमात्र को पढ़ने का अधिकार है। तुम कुआ में पड़ो और यह श्रुति तुम्हारी कपोलकल्पना से हुई है। किसी प्रामाणिक ग्रन्थ की नहीं। और सब मनुष्यों के वेदादि शास्त्र पढ़ने सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद के छब्बीसवें अध्याय में दूसरा मंत्र है:—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्याᳫं शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥ [यजु० अ० २६ । २]

परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्यः) सब मनुष्यों के लिये (इमाम्) इस (कल्याणीम्) कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी (वाचम्) ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का (आ, वदानि) उपदेश करता हूं वैसे तुम भी किया करो।' यहां कोई ऐसा प्रश्न करे कि जन शब्द से द्विजों का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि स्मृत्यादि ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही के वेदों के पढ़ने का अधिकार लिखा है स्त्री और शूद्रादि वर्णों का नहीं (उत्तर)—(ब्रह्मराजन्याभ्याम्) इत्यादि देखो परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय, (अर्य्याय) वैश्य, (शूद्राय) शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्रियादि (अरणाय) और अतिशूद्रादि के लिये भी वेदों का प्रकाश किया है अर्थात् सब मनुष्य वेदों को पढ़ पढ़ा और सुन सुनाकर विज्ञान को बढ़ा के अच्छी बातों का ग्रहण और बुरी बातों का त्याग करके दुःखों से छूट कर आनन्द को प्राप्त हों। कहिए अब तुम्हारी बात मानें वा परमेश्वर की ? परमेश्वर की बात अवश्य माननीय है। इतने पर भी जो कोई इसको न मानेगा वह नास्तिक कहावेगा। क्योंकि "नास्तिको वेदनिन्दकः" वेदों का निन्दक और न मानने वाला नास्तिक कहाता है। क्या परमेश्वर शूद्रों का भला करना नहीं चाहता ? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों को पढ़ने सुनने का शूद्रों के लिये निषेध और द्विजों के लिये विधि करे ? जो परमेश्वर का अभिप्राय शूद्रादि के पढ़ाने सुनाने का न होता तो इनके शरीर में वाक् और श्रोत्र इन्द्रिय क्यों रचता। जैसे परमात्मा ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सब के लिये बनाये हैं वैसे ही वेद भी सब के लिये प्रकाशित किये हैं। और जहां कहीं निषेध किया है उसका यह अभिप्राय है कि जिसको पढ़ने पढ़ाने से कुछ भी न आवे वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है। उसका पढ़ना पढ़ाना व्यर्थ है और जो स्त्रियों के पढ़ने का निषेध करते हो वह तुम्हारी मूर्खता, स्वार्थता और निर्बुद्धिता का प्रभाव है देखो वेद में कन्याओं के पढ़ने का प्रमाण:—

ब्रह्मचर्य्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम् ॥ अथर्व० [कां० ११ । प्र० २४ । अ० ३ । मं० १८]

जैसे लड़के ब्रह्मचर्य सेवन से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवति, विदुषी, अपने अनुकूल प्रिय सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं वैसे (कन्या) कुमारी (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादि शास्त्रों को पढ़ पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवति होके पूर्ण युवावस्था में अपने

सदृश प्रिय विद्वान् (युवानम्) पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष को (विन्दते) प्राप्त होवे इसलिये स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिये (प्रश्न) क्या स्त्री लोग भी वेदों को पढ़ें ? (उत्तर) अवश्य देखो श्रौतसूत्रादि में:—

इमं मन्त्रं पत्नी पठेत् ॥

अर्थात् स्त्री यज्ञ में इस मन्त्र को पढ़े । जो वेदादि शास्त्रों को न पढ़ी होवे तो यज्ञ में स्वरसहित मन्त्रों का उच्चारण और संस्कृतभाषण कैसे कर सके भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषणरूप गार्गी आदि वेदादि शास्त्रों को पढ़ के पूर्ण विदुषी हुई थी यह शतपथब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है । भला जो पुरुष विद्वान् और स्त्री अविदुषी और स्त्री विदुषी और पुरुष अविद्वान् हो तो नित्यप्रति देवासुर संग्राम घर में मचा रहे फिर सुख कहां ? इसलिये जो स्त्री न पढ़ें तो कन्याओं की पाठशाला में अध्यापिका क्योंकर होसकें तथा राजकार्य्य न्यायाधीशत्वादि गृहाश्रम का कार्य्य जो पति को स्त्री और स्त्री को पति प्रसन्न रखना घर के सब काम स्त्री के आधीन रहना इत्यादि काम विना विद्या के अच्छे प्रकार कभी ठीक नहीं हो सकते ॥

देखो आर्य्यावर्त्त के राजपुरुषों की स्त्रियां धनुर्वेद अर्थात् युद्धविद्या भी अच्छे प्रकार जानती थीं क्योंकि जो न जानती होतीं तो केकयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्योंकर जा सकतीं ? और युद्ध कर सकतीं । इसलिये ब्राह्मणी और क्षत्रिया को सब विद्या, वैश्या को व्यवहार विद्या और शूद्रा को पाकादि सेवा की विद्या अवश्य पढ़नी चाहिये । जैसे पुरुषों को व्याकरण, धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिये वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्पविद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये । क्योंकि इनके सीखे विना सत्यासत्य का निर्णय, पति आदि से अनुकूल वर्त्तमान, यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन वर्द्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्य्यों को जैसा चाहिये वैसा करना कराना वैद्यकविद्या से औषधवत् अन्न पान बनाना और बनवाना नहीं कर सकतीं जिससे घर में रोग कभी न आवे और सब लोग सदा आनन्दित रहैं । शिल्पविद्या के जाने विना घर का बनवाना, वस्त्र आभूषण आदि का बनाना बनवाना, गणितविद्या के विना सब का हिसाब समझना समझाना, वेदादि शास्त्रविद्या के विना ईश्वर और धर्म को न जानके अधर्म से कभी नहीं बच सके । इसलिये वे ही धन्यवादार्ह और कृतकृत्य हैं कि जो अपने सन्तानों को ब्रह्मचर्य, उत्तम शिक्षा और विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढ़ावें जिससे वे सन्तान मातृ, पितृ, पति, सासु, श्वशुर, राजा, प्रजा, पड़ोसी, इष्ट मित्र और सन्तानादि से यथायोग्य धर्म से वर्तें । यही कोश अक्षय है इसको जितना व्यय करे उतना ही बढ़ता जाय अन्य सब कोश व्यय करने से घट जाते हैं और दायभागी भी निजभाग लेते हैं और विद्याकोश का चोर वा दायभागी कोई भी नहीं हो सकता इस कोश की रक्षा और वृद्धि करने वाला विशेष राजा और प्रजा भी हैं ॥

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥ मनु० [७ । १५२]

राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रखके, विद्वान् कराना । जो कोई इस आज्ञा को न माने तो उसके माता पिता को दण्ड देना अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावें किन्तु आचार्य्यकुल में रहें जबतक समावर्त्तन का समय न आवे तबतक विवाह न होने पावे ॥

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते । वार्य्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥

मनु० [४ । २३३]

संसार में जितने दान हैं अर्थात् जल, अन्न, गौ, पृथिवी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृतादि इन सब दानों से वेदविद्या का दान अतिश्रेष्ठ है। इसलिये जितना बन सके उतना प्रयत्न तन, मन, धन से विद्या की वृद्धि मे किया करें। जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है वही देश सौभाग्यवान् होता है। यह ब्रह्मचर्याश्रम की शिक्षा संक्षेप से लिखी गई है इसके आगे चौथे समुल्लास में समावर्त्तन और गृहाश्रम की शिक्षा लिखी जायगी ॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते शिक्षाविषये तृतीयः
समुल्लासः सम्पूर्णः ॥ ३ ॥



अथ चतुर्थसमुल्लासारम्भः

अथ समावर्त्तनविवाहगृहाश्रमविधिं वक्ष्यामः

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् । अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥
मनु० [३ । २]

जब यथावत् ब्रह्मचर्य्य [में] आचार्यानुकूल वर्त्तकर, धर्म से चारों वेद, तीन वा दो अथवा एक वेद को साङ्गोपाङ्ग पढ़ के जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित न हुआ हो वह पुरुष वा स्त्री गृहाश्रम में प्रवेश करे ॥

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः । स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा ॥
मनु० [३ । ३]

जो स्वधर्म अर्थात् यथावत् आचार्य और शिष्य का धर्म है उससे युक्त पिता जनक वा अध्यापक से ब्रह्मदाय अर्थात् विद्यारूप भाग का ग्रहण, माला का धारण करनेवाला अपने पलङ्ग मे बैठे हु आचार्य्य को प्रथम गोदान से सत्कार करे वैसे लक्षणयुक्त विद्यार्थी को भी कन्या का पिता गोदान से सत्कार करे ॥

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि । उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥
मनु० [३ । ४]

गुरु की आज्ञा ले स्नान कर गुरुकुल से अनुक्रमपूर्वक आ के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने वर्णानुकूल सुन्दर लक्षणयुक्त कन्या से विवाह करे ॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः । सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥
मनु० [३ । ५]

जो कन्या माता के कुल की छः पीढ़ियों में न हो और पिता के गोत्र की न हो उस कन्या से विवाह करना उचित है । इसका यह प्रयोजन है कि:—

परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥ शतपथ० ॥

यह निश्चित बात है कि जैसी परोक्ष पदार्थ मे प्रीति होती है वैसी प्रत्यक्ष में नहीं । जैसे किसी ने मिश्री के गुण सुने हो और खाई न हो तो उसका मन उसी मे लगा रहता है, जैसे किसी परोक्ष वस्तु की प्रशंसा सुनकर मिलने की उत्कट इच्छा होती है वैसे ही दूरस्थ अर्थात् जो अपने गोत्र वा माता के कुल में निकट सम्बन्ध की न हो उसी कन्या से वर का विवाह होना चाहिये । निकट और ५ विवाह करने में गुण ये हैं:—(१) एक—जो बालक बाल्यावस्था से निकट रहते हैं परस्पर क्रीड़ा, लड़ाई और प्रेम करते एक दूसरे के गुण, दोष, स्वभाव, बाल्यावस्था के विपरीत आचरण जानते और

जो छोटे भी एक दूसरे को देखते हैं उनका परस्पर विवाह होने से प्रेम कभी नहीं हो सकता, (२) दूसरा—जैसे पानी में पानी मिलाने से विलक्षण गुण नहीं होता वैसे एक गोत्र पितृ वा मातृकुल में विवाह होने में धातुओं में अदल बदल नहीं होने से उन्नति नहीं होती, (३) तीसरा—जैसे दूध में मिश्री या शुण्ठ्यादि ओषधियों के योग होने से उत्तमता होती है वैसे ही भिन्न गोत्र मातृ पितृकुल से पृथक् वर्त्तमान स्त्री पुरुषों का विवाह होना उत्तम है, (४) चौथा—जैसे एक देश में रोगी हो वह दूसरे देश में वायु और खान पान के बदलने से रोगरहित होता है वैसे ही दूर देशस्थों के विवाह होने में उत्तमता है, (५) पांचवें—निकट सम्बन्ध करने में एक दूसरे के निकट होने में सुख दुःख का भान और विरोध होना भी सम्भव है, दूरदेशस्थों में नहीं और दूरस्थों के विवाह में दूर २ प्रेम की डोरी लम्बी बढ़ जाती है निकटस्थ विवाह में नहीं, (६) छठे—दूर २ देश के वर्त्तमान और पदार्थों की प्राप्ति भी दूर सम्बन्ध होने मे सहजता से हो सकती है, निकट विवाह होने में नहीं। इसलिये:—

दुहिता दुर्हिता दूरेहिता भवतीति ॥ निरु० [३ । ४]

कन्या का नाम दुहिता इस कारण से है कि इस का विवाह दूर देश में होने से हितकारी होता है निकट रहने मे नही, (७) सातवे—कन्या के पितृकुल में दारिद्र्य होने का भी सम्भव है क्योंकि जब २ कन्या पितृकुल मे आवेगी तब तब इसको कुछ न कुछ देना ही होगा, (८) आठवां-कोई निकट होने से एक दूसरे को अपने २ पितृकुल के सहाय का घमंड और जब कुछ भी दोनों में वैमनस्य होगा तब स्त्री झट ही पिता के कुल मे चली जायगी एक दूसरे की निन्दा अधिक होगी और विरोध भी, क्योंकि प्रायः स्त्रियों का स्वभाव तीक्ष्ण और मृदु होता है इत्यादि कारणों से पिता के एक गोत्र माता की छः पीढ़ी और समीप देश में विवाह करना अच्छा नहीं ॥

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः । स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥
मनु० [३ । ६]

चाहें कितने ही धन, धान्य, गाय, अजा, हाथी, घोड़े, राज्य, श्री आदि से समृद्ध ये कुल हों तो भी विवाहसम्बन्ध में निम्नलिखित दश कुलों का त्याग करदे:—

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् । क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥
मनु० [३ । ७]

जो कुल सत्क्रिया से हीन, सत्पुरुषों से रहित, वेदाध्ययन से विमुख, शरीर पर बड़े २ लोम अथवा बवासीर, क्षयी, दमा, खांसी, आमाशय, मिरगी, श्वेतकुष्ठ और गलितकुष्ठयुक्त हों, उन कुलों की कन्या वा वर के साथ विवाह होना न चाहिये क्योंकि ये सब दुर्गुण और रोग विवाह करनेवाले के कुल में भी प्रविष्ट होजाते हैं इसलिये उत्तम कुल के लड़के और लड़कियों का आपस मे विवाह होना चाहिये ॥

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाऽधिकाङ्गीं न रोगिणीम् । नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटान्न पिङ्गलाम् ॥
मनु० [३ । ८]

न पीले वर्णवाली, न अधिकाङ्गी अर्थात् पुरुष से लम्बी, चौड़ी, अधिक बलवाली, न रोगयुक्ता, न लोमरहित, न बहुत लोमवाली, न बकवाद करनेहारी और भूरे नेत्रवाली ॥

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् । न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥
मनु० [३ । ९]

न वृक्ष अर्थात् अश्विनी, भरणी, रोहिणीदेई, रेवतीबाई, चित्तरी आदि नक्षत्र नामवाली तुलसिआ, गेंदा, गुलाबी, चंपा, चमेली आदि वृक्ष नामवाली, गङ्गा, यमुना आदि नदी नामवाली चांडाली आदि अन्त्य नामवाली, विन्ध्या, हिमालया, पार्वती आदि पर्वत नामवाली, कोकिला, मैना आदि पक्षी नामवाली, नागी, भुजंगा आदि सर्प नामवाली, माधोदासी मीरादासी आदि प्रेष्य नामवाली भीमकुंवरी, चंडिका, काली आदि भीषण नामवाली कन्या के साथ विवाह न करना चाहिये क्योंकि नाम कुत्सित और अन्य पदार्थों के भी हैं ॥

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् । तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥

मनु० [३ । १०]

जिसके सरल सूधे अङ्ग हों विरुद्ध न हों, जिसका नाम सुन्दर अर्थात् यशोदा, सुखदा आदि हो, हंस और हथिनी के तुल्य जिसकी चाल हो, सूक्ष्म लोम केश और दांतयुक्त और जिसके सब अङ्ग कोमल हों वैसी स्त्री के साथ विवाह करना चाहिये । (प्रश्न) विवाह का समय और प्रकार कौन सा अच्छा है (उत्तर) सोलहवें वर्ष से ले के चौबीसवें वर्ष तक कन्या और पच्चीसवें वर्ष से ले के अड़तालीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाह समय उत्तम है । इसमें जो सोलह और पच्चीस में विवाह करे तो निकृष्ट, अठारह वीस की स्त्री तीस पैंतीस वा चालीस वर्ष के पुरुष का मध्यम, चौवीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वर्ष के पुरुष का विवाह होना उत्तम है । जिस देश में इसी प्रकार विवाह की विधि श्रेष्ठ और ब्रह्मचर्य विद्याभ्यास अधिक होता है वह देश सुखी और जिस देश में ब्रह्मचर्य विद्याग्रहण रहित बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है वह देश दुःख में डूब जाता है । क्योंकि ब्रह्मचर्य विद्या के ग्रहणपूर्वक विवाह के सुधार ही से सब बातों का सुधार और बिगड़ने से बिगाड़ हो जाता है । (प्रश्न)

अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी । दशवर्षा भवेत्कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥ १ ॥
माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च । त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥ २॥

ये श्लोक पाराशरी और शीघ्रबोध में लिखे हैं । अर्थ यह है कि कन्या की आठवें वर्ष विवाह में गौरी, नववे वर्ष रोहिणी, दशवें वर्ष कन्या और उसके आगे रजस्वला संज्ञा होती है ॥ १ ॥ जो दशवें वर्ष तक विवाह न करके रजस्वला कन्या को माता पिता और बड़ा भाई ये तीनों देख के नरक में गिरते हैं । (उत्तर)

ब्रह्मोवाच ।

एकक्षणा भवेद् गौरी द्विक्षणेयन्तु रोहिणी । त्रिक्षणा सा भवेत्कन्या ह्यत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥ १ ॥
माता पिता तथा भ्राता मातुलो भगिनी स्वका । सर्वे ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥ २॥

यह सद्योनिर्मित ब्रह्मपुराण का वचन है ।

अर्थ—जितने समय में परमाणु एक पलटा खावे उतने समय को क्षण कहते हैं जब कन्या जन्मे तब एक क्षण में गौरी, दूसरे में रोहिणी, तीसरे में कन्या और चौथे में रजस्वला हो जाती है ॥१॥ उस रजस्वला को देख के उसके माता, पिता, भाई, मामा और बहिन सब नरक को जाते हैं ॥ २ ॥

(प्रश्न) ये श्लोक प्रमाण नहीं (उत्तम) क्यों प्रमाण नहीं ? क्या जो ब्रह्माजी के श्लोक प्रमाण नहीं तो तुम्हारे भी प्रमाण नहीं हो सकते (प्रश्न) वाह २ पराशर और काशीनाथ का भी प्रमाण नहीं

करते (उत्तर) वाह जी वाह क्या तुम ब्रह्माजी का प्रमाण नहीं करते, पराशर काशीनाथ से ब्रह्माजी बड़े नहीं हैं ? जो तुम ब्रह्माजी के श्लोकों को नहीं मानते तो हम भी पराशर काशीनाथ के श्लोकों को नहीं मानते (प्रश्न) तुम्हारे श्लोक असंभव होने से प्रमाण नहीं क्योंकि सहस्रों क्षण-जन्म समय ही में बीत जाते हैं तो विवाह कैसे हो सकता है और उस समय विवाह करने का कुछ फल भी नहीं दीखता (उत्तर) जो हमारे श्लोक असंभव हैं तो तुम्हारे भी असंभव हैं क्योंकि आठ, नौ और दशवें वर्ष में भी विवाह करना निष्फल है, क्योंकि सोलहवें वर्ष के पश्चात् चौबीसवें वर्ष पर्यन्त विवाह होने से पुरुष का वीर्य परिपक्व, शरीर बलिष्ठ, स्त्री का गर्भाशय पूरा और शरीर भी बलयुक्त होने से सन्तान उत्तम होते हैं * जैसे आठवें वर्ष की कन्या में सन्तानोत्पत्ति का होना असंभव है वैसे ही गौरी, रोहिणी नाम देना भी अयुक्त है। यदि गोरी कन्या न हो किन्तु काली हो तो उसका नाम गौरी रखना व्यर्थ है। और गौरी महादेव की स्त्री, रोहिणी वासुदेव की स्त्री थी उसको तुम पौराणिक लोग मातृसमान मानते हो। जब कन्यामात्र में गौरी आदि की भावना करते हो तो फिर उनसे विवाह करना कैसे संभव और धर्मयुक्त हो सकता है! इसलिये तुम्हारे और हमारे दो २ श्लोक मिथ्या ही हैं क्योंकि जैसा हमने "ब्रह्मोवाच" करके श्लोक बना लिये हैं वैसे वे भी पराशर आदि के नाम से बना लिये हैं। इसलिये इन सब का प्रमाण छोड़ के वेदों के प्रमाण से सब काम किया करो। देखो मनु में—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती। ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥

मनु० [९ । ९०]

कन्या रजस्वला हुए पीछे तीन वर्ष पर्यन्त पति की खोज करके अपने तुल्य पति को प्राप्त होवे। जब प्रतिमास रजोदर्शन होता है तो तीन वर्षों में ३६ वार रजस्वला हुए पश्चात् विवाह करना योग्य है इससे पूर्व नहीं ॥

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि। न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥

मनु० [९ । ८९]

चाहे लड़का लड़की मरणपर्यन्त कुमार रहें परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध गुण कर्म स्वभाववालों का विवाह कभी न होना चाहिये। इससे सिद्ध हुआ कि न पूर्वोक्त समय से प्रथम वा असदृशों का विवाह होना योग्य है ॥

---

* उचित समय से न्यून आयुवाले स्त्री पुरुष को गर्भाधान में मुनिवर धन्वन्तरिजी सुश्रुत में निषेध करते हैं.—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्। यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥ १ ॥

जातो वा न चिरञ्जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः। तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥

सुश्रुत शारीरस्थाने अ० १० । श्लोक ४७ । ४८ ॥

अर्थ— सोलह वर्ष से न्यून वयवाली स्त्री में पच्चीस वर्ष से न्यून आयुवाला पुरुष जो गर्भ को स्थापन करे तो वह कुक्षिस्थ हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता अर्थात् पूर्ण काल तक गर्भाशय में रहकर उत्पन्न नहीं होता।

अथवा उत्पन्न हो तो फिर चिरकाल तक न जीवे वा जीवे तो दुर्बलेन्द्रिय हो, इस कारण से अतिबाल्यावस्थावाली स्त्री में गर्भ स्थापन न करे ॥ २ ॥

ऐसे २ शास्त्रोक्त नियम और सृष्टिक्रम को देखने और बुद्धि से विचारने से यही सिद्ध होता है कि १६ वर्ष से न्यून स्त्री और २५ वर्ष से न्यून आयुवाला पुरुष कभी गर्भाधान करने के योग्य नहीं होता, इन नियमों से विपरीत जो करते हैं वे दुःखभागी होते हैं ॥ स० दा० ॥

(प्रश्न) विवाह करना माता पिता के आधीन होना चाहिये वा लड़का लड़की के आधीन रहे।
(उत्तर) लड़का लड़की के आधीन विवाह होना उत्तम है। जो माता पिता विवाह करना कभी विचारें तो भी लड़का लड़की की प्रसन्नता के विना न होना चाहिये क्योंकि एक दूसरे की प्रसन्नता से होने में विरोध बहुत कम होता और सन्तान उत्तम होते हैं। अप्रसन्नता के विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है माता पिता का नहीं क्योंकि जो उनमें परस्पर प्रसन्नता रहे तो उन्हीं को सुख और विरोध में उन्हीं को दुःख होता और—

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्य्या तथैव च। यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥
मनु० [३। ६०]

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है उसी कुल में आनन्द, लक्ष्मी और कीर्त्ति निवास करती है और जहां विरोध, कलह होता है वहां दुःख, दरिद्रता और निन्दा निवास करती है। इसलिये जैसी स्वयंवर की रीति आर्य्यावर्त्त में परम्परा से चली आती है वही विवाह उत्तम है। जब स्त्री पुरुष विवाह करना चाहें तब विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीर का परिमाणादि यथायोग्य होना चाहिये जबतक इनका मेल नहीं होता तबतक विवाह में कुछ भी सुख नहीं होता और न बाल्यावस्था मे विवाह करने से सुख होता।

युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान्भवति जायमानः। तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो३ मनसा देवयन्तः॥ १॥ ऋ०॥ मं० ३। सू० ८। मं० ४॥

आधेनवो धुनयन्तामशिश्वीः शबर्दुघाः शशया अप्रदुग्धाः। नव्यानव्या युवतयो भवन्तीर्महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ २॥ ऋ०॥ मं० ३। सू० ५५। मं० १६॥

पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषावस्तोरुषसो जरयन्तीः। मिनाति श्रियं जरिमा तनूनामप्यु नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः॥ ३॥ ऋ०॥ मं० १। सू० १७९। मं० १॥

जो पुरुष (परिवीतः) सब ओर से यज्ञोपवीत ब्रह्मचर्य सेवन से उत्तम शिक्षा और विद्या से युक्त (सुवासाः) सुन्दर वस्त्र धारण किया हुआ ब्रह्मचर्य्ययुक्त (युवा) पूर्ण ज्वान होके विद्याग्रहण कर गृहाश्रम में (आगात्) आता है (स, उ) वही दूसरे विद्याजन्म मे (जायमानः) प्रसिद्ध होकर (श्रेयान्) अतिशय शोभायुक्त मङ्गलकारी (भवति) होता है (स्वाध्यः) अच्छे प्रकार ध्यानयुक्त (मनसा) विज्ञान से (देवयन्तः) विद्यावृद्धि की कामनायुक्त (धीरासः) धैर्ययुक्त (कवयः) विद्वान् लोग (तम्) उसी पुरुष को (उन्नयन्ति) उन्नतिशील करके प्रतिष्ठित करते हैं और जो ब्रह्मचर्य्यधारण विद्या उत्तम शिक्षा का ग्रहण किये विना अथवा बाल्यावस्था में विवाह करते हैं वे स्त्री पुरुष नष्ट भ्रष्ट होकर विद्वानों में प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते॥ १॥

जो (अप्रदुग्धाः) किसी ने दुही नहीं उन (धेनवः) गौओं के समान (अशिश्वीः) बाल्यावस्था से रहित (शबर्दुघाः) सब प्रकार के उत्तम व्यवहारों को पूर्ण करनेहारी (शशयाः) कुमारावस्था को उल्लंघन करनेहारी (नव्यानव्याः) नवीन २ शिक्षा और अवस्था से पूर्ण (भवन्तीः) वर्त्तमान (युवतयः) पूर्ण युवावस्थास्थ स्त्रियां (देवानाम्) ब्रह्मचर्य सुनियमों से पूर्ण विद्वानों के (एकम्) अद्वितीय (महत्) बड़े (असुरत्वम्) प्रज्ञा शास्त्र शिक्षायुक्त प्रज्ञा में रमण के भावार्थ को प्राप्त होती हुई तरुण पतियों को प्राप्त होके (आधुनयन्ताम्) गर्भ धारण करें। कभी भूल के भी बाल्यावस्था में पुरुष का मन से भी ध्यान न करें क्योंकि यही कर्म इस लोक और परलोक के सुख का साधन है। बाल्यावस्था में विवाह से जितना पुरुष का नाश उससे अधिक स्त्री का नाश होता है॥ २॥

जैसे (नु) शीघ्र (शश्रमाणाः) अत्यन्त श्रम करनेहारे (वृषणः) वीर्य सींचने में समर्थ पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष (पत्नीः) युवावस्थास्थ हृदयों को प्रिय स्त्रियों को (जगम्युः) प्राप्त होकर पूर्ण शतवर्ष वा उससे अधिक आयु को आनन्द से भोगते और पुत्र पौत्रादि से संयुक्त रहते हैं वैसे स्त्री पुरुष सदा वर्त्तें जैसे (पूर्वीः) पूर्व वर्त्तमान (शरदः) शरद् ऋतुओं और (जरयन्तीः) वृद्धावस्था को प्राप्त कराने वाली (उषसः) प्रातःकाल की वेलाओं को (दोषा) रात्री और (वस्तोः) दिन (तनूनाम्) शरीरों की (श्रियम्) शोभा को (जरिमा) अतिशय वृद्धपन बल और शोभा को दूर कर देता है वैसे (अहम्) मैं स्त्री वा पुरुष (उ) अच्छे प्रकार (अपि) निश्चय करके ब्रह्मचर्य्य से विद्या शिक्षा शरीर और आत्मा के बल और युवावस्था को प्राप्त हो ही के विवाह करूं इससे विरुद्ध करना वेदविरुद्ध होने से सुखदायक विवाह कभी नहीं होता ॥ २ ॥

जबतक इसी प्रकार सब ऋषि मुनि राजा महाराजा आर्य्य लोग ब्रह्मचर्य्य से विद्या पढ़ ही के स्वयंवर विवाह करते थे तबतक इस देश की सदा उन्नति होती थी। जब से यह ब्रह्मचर्य्य से विद्या का न पढ़ना, बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् माता पिता के आधीन विवाह होने लगा तब से क्रमशः आर्य्यावर्त्त देश की हानि होती चली आई है। इससे इस दुष्ट काम को छोड़ के सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार से स्वयंवर विवाह किया करें। सो विवाह वर्णानुक्रम से करें और वर्णव्यवस्था भी गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार होनी चाहिये। (प्रश्न) क्या जिसके माता पिता ब्राह्मण हों वह ब्राह्मणी ब्राह्मण होता है और जिसके माता पिता अन्य वर्णस्थ हों उनका सन्तान कभी ब्राह्मण हो सकता है ? (उत्तर) हां बहुत से होगये, होते हैं और होंगे भी जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में जाबाल ऋषि अज्ञात-कुल, महाभारत मे विश्वामित्र क्षत्रिय वर्ण और मातङ्ग ऋषि चांडाल कुल से ब्राह्मण होगये थे, अब भी जो उत्तम विद्या स्वभाववाला है वही ब्राह्मण के योग्य और मूर्ख शूद्र के योग्य होता है और वैसा ही आगे भी होगा। (प्रश्न) भला जो रज वीर्य से शरीर हुआ है वह बदल कर दूसरे वर्ण के योग्य कैसे हो सकता है ? (उत्तर) रज वीर्य्य के योग से ब्राह्मण-शरीर नहीं होता किन्तुः—

स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः। महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ मनु० [२।२८]

इसका अर्थ पूर्व कर आये हैं अब यहां भी संक्षेप से कहते हैं (स्वाध्यायेन) पढ़ने पढ़ाने (जपैः) विचार करने कराने, नानाविध होम के अनुष्ठान, सम्पूर्ण वेदों को शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, स्वरोच्चारणसहित पढ़ने पढ़ाने (इज्यया) पौर्णमासी इष्टि आदि के करने, (सुतैः) पूर्वोक्त विधिपूर्वक धर्म से सन्तानोत्पत्ति (महायज्ञैश्च) पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, वैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ (यज्ञैश्च) अग्निष्टोमादियज्ञ, विद्वानों का संग, सत्कार, सत्यभाषण, परोपकारादि सत्यकर्म और सम्पूर्ण शिल्पविद्यादि पढ़ के दुष्टाचार छोड़ श्रेष्ठाचार में वर्त्तने से (इयम्) यह (तनुः) शरीर (ब्राह्मी) ब्राह्मण का (क्रियते) किया जाता है। क्या इस श्लोक को तुम नहीं मानते ? मानते हैं, फिर क्यों रज वीर्य के योग से वर्णव्यवस्था मानते हो ? मैं अकेला नहीं मानता किन्तु बहुतसे लोग परम्परा से ऐसा ही मानते हैं (प्रश्न) क्या तुम परम्परा का भी खण्डन करोगे ? (उत्तर) नहीं परन्तु तुम्हारी उलटी समझ को नहीं मान के खण्डन भी करते हैं (प्रश्न) हमारी उलटी और तुम्हारी सूधी समझ है इसमें क्या प्रमाण ? (उत्तर) यही प्रमाण है कि जो तुम पांच सात पीढ़ियों के वर्त्तमान को सनातन व्यवहार मानते हो और हम वेद तथा सृष्टि के आरम्भ से आजपर्यन्त की परम्परा मानते हैं देखो जिसका पिता श्रेष्ठ वह पुत्र दुष्ट और जिसका पुत्र श्रेष्ठ वह पिता दुष्ट तथा कहीं दोनों श्रेष्ठ या दुष्ट देखने में आते हैं इसलिये तुम लोग भ्रम में पड़े हो देखो मनु महाराज ने क्या कहा है:—

येनास्य पितरो याता येन याता पितामहाः । तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥
मनु० (४ । १७८)

जिस मार्ग से इसके पिता, पितामह चले हों उसी मार्ग में सन्तान भी चलें परन्तु (सताम्) जो सत्पुरुष पिता पितामह हों उन्हीं के मार्ग में चलें और जो पिता, पितामह दुष्ट हों तो उन के मार्ग में कभी न चलें। क्योंकि उत्तम धर्मात्मा पुरुषों के मार्ग में चलने से दुःख कभी नहीं होता इसको तुम मानते हो वा नहीं? हां २ मानते हैं। और देखो जो परमेश्वर की प्रकाशित वेदोक्त बात है वही सनातन और उसके विरुद्ध है वह सनातन कभी नहीं हो सकती। ऐसा ही सब लोगों को मानना चाहिये वा नहीं? अवश्य चाहिये। जो ऐसा न माने उससे कहो कि किसी का पिता दरिद्र हो और उस का पुत्र धनाढ्य होवे तो क्या अपने पिता की दरिद्रावस्था के अभिमान से धन को फेंक देवे! क्या जिसका पिता अन्धा हो उसका पुत्र भी अपनी आंखों को फोड़ लेवे! जिसका पिता कुकर्मी हो क्या उसका पुत्र भी कुकर्म ही करे! नहीं २ किन्तु जो जो पुरुषों के उत्तम कर्म हों उनका सेवन और दुष्ट कर्मों का त्याग कर देना सब को अत्यावश्यक है। जो कोई रज वीर्य्य के योग से वर्णाश्रम व्यवस्था माने और गुण कर्मों के योग से न माने तो उससे पूछना चाहिये कि जो कोई अपने वर्ण को छोड़ नीच, अन्त्यज अथवा कृश्चीन, मुसलमान हो गया हो उसको भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते? यहां यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिये इसलिये वह ब्राह्मण नहीं है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं वे ही ब्राह्मणादि और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुण कर्म स्वभाववाला होवे तो उसको भी उत्तम वर्ण में और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच काम करे तो उसको नीच वर्ण में गिनना अवश्य चाहिये। (प्रश्न)

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः । ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

यह यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय का ११ वां मन्त्र है। इसका यह अर्थ है कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख, क्षत्रिय बाहू, वैश्य ऊरू और शूद्र पगों से उत्पन्न हुआ है इसलिये जैसे मुख न बाहू आदि और बाहू आदि न मुख होते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण न क्षत्रियादि और क्षत्रियादि न ब्राह्मण हो सकते (उत्तर) इस मन्त्र का अर्थ जो तुमने किया वह ठीक नहीं क्योंकि यहां पुरुष अर्थात् निराकार व्यापक परमात्मा की अनुवृत्ति है। जब वह निराकार है तो उसके मुखादि अङ्ग नहीं हो सकते, जो मुखादि अङ्गवाला हो वह अर्थात् व्यापक नहीं और जो व्यापक नहीं वह सर्वशक्तिमान् जगत् का स्रष्टा, धर्त्ता, प्रलयकर्त्ता, जीवों के पुण्य पापों की जानके व्यवस्था करनेहारा, सर्वज्ञ, अजन्मा, मृत्युरहित आदि विशेषणवाला नहीं हो सकता इसलिये इसका यह अर्थ है कि जो (अस्य) पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि में मुख के सदृश सब में मुख्य उत्तम हो वह (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (बाहू) "बाहुर्वै बलं बाहुर्वै वीर्य्यम्" शतपथब्राह्मण बल वीर्य्य का नाम बाहु है वह जिसमें अधिक हो सो (राजन्यः) क्षत्रिय (ऊरू) कटि के अधोभाग और जानु के उपरिस्थ भाग का ऊरू नाम है जो सब पदार्थों और सब देशों में ऊरू के बल से जावे आवे प्रवेश करे वह (वैश्यः) वैश्य और (पद्भ्याम्) जो पग के अर्थात् नीचे अङ्ग के सदृश मूर्खत्वादि गुण वाला हो वह शूद्र है। अन्यत्र शतपथ ब्राह्मणादि में भी इस मंत्र का ऐसा ही अर्थ किया है जैसे:

यस्मादेते मुख्यास्तस्मान्मुखतो ह्यसृज्यन्त इत्यादि ।

जिससे ये मुख्य हैं इससे मुख से उत्पन्न हुए ऐसा कथन संगत होता है अर्थात् जैसा मुख अङ्गों में श्रेष्ठ है वैसे पूर्ण विद्या और उत्तम गुण कर्म स्वभाव से युक्त होने से मनुष्यजाति उत्तम ब्राह्मण कहाता है। जब परमेश्वर के निराकार होने से मुखादि अङ्ग ही नहीं हैं तो मुख आदि से उत्पन्न

असम्भव है। जैसा कि वन्ध्या स्त्री के पुत्र का विवाह होना! और जो मुखादि अङ्गों से ब्राह्मणादि उत्पन्न होते तो उपादान कारण के सदृश ब्राह्मणादि की आकृति अवश्य होती। जैसे मुख का आकार गोलमाल है वैसे ही उनके शरीर का भी गोलमाल मुखाकृति के समान होना चाहिये। क्षत्रियों के शरीर भुजा के सदृश, वैश्यों के ऊरू के तुल्य और शूद्रों के शरीर पग के समान आकार वाले होने चाहिये ऐसा नहीं होता और जो कोई तुमसे प्रश्न करेगा कि जो २ मुखादि से उत्पन्न हुए थे उनकी ब्राह्मणादि संज्ञा हो परन्तु तुम्हारी नहीं क्योंकि जैसे और सब लोग गर्भाशय से उत्पन्न होते हैं वैसे तुम भी होते हो। तुम मुखादि से उत्पन्न न होकर ब्राह्मणादि [संज्ञा का] अभिमान करते हो इसलिये तुम्हारा कहा अर्थ व्यर्थ है और जो हमने अर्थ किया है वह सच्चा है। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है जैसा:—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥

मनु० [१० । ६५]

जो शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान गुण कर्म स्वभाव वाला हो तो वह शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य होजाय, वैसे ही जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यकुल मे उत्पन्न हुआ हो और उसके गुण कर्म स्वभाव शूद्र के सदृश हों तो वह शूद्र होजाय, वैसे क्षत्रिय वा वैश्य के कुल मे उत्पन्न होके ब्राह्मण ब्राह्मणी वा शूद्र के समान होने से ब्राह्मण और शूद्र भी होजाता है। अर्थात् चारो वर्णों मे जिस २ वर्ण के सदृश जो २ पुरुष वा स्त्री हो वह २ उसी वर्ण में गिनी जावे।

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १ ॥

अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥२॥ ये आपस्तम्ब के सूत्र हैं।

अर्थः—धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम २ वर्णों को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस २ के योग्य होवे ॥ १ ॥

वैसे अधर्माचरण से पूर्व २ अर्थात् उत्तम २ वर्णवाला मनुष्य अपने से नीचे वाले वर्णों को प्राप्त होता है और उसी वर्ण में गिना जावे ॥ २ ॥ जैसे पुरुष जिस जिस वर्ण के योग्य होता है वैसे ही स्त्रियों की भी व्यवस्था समझनी चाहिये। इससे क्या सिद्ध हुआ कि इस प्रकार होने से सब वर्ण अपने २ गुण कर्म स्वभावयुक्त होकर शुद्धता के साथ रहते हैं अर्थात् ब्राह्मणकुल मे कोई क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के सदृश न रहे और क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र वर्ण भी शुद्ध रहते हैं अर्थात् वर्णसंकरता प्राप्त न होगी। इससे किसी वर्ण की निन्दा वा अयोग्यता भी न होगी। (प्रश्न) जो किसी के एक ही पुत्र वा पुत्री हो वह दूसरे वर्ण में प्रविष्ट होजाय तो उसके मा बाप की सेवा कौन करेगा और वंशच्छेदन भी हो जायगा। इसकी क्या व्यवस्था होनी चाहिये? (उत्तर) न किसी की सेवा का भङ्ग और न वंशच्छेदन होगा क्योंकि उनको अपने लड़के लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान विद्यासभा और राजसभा की व्यवस्था से मिलेंगे, इसलिये कुछ भी अव्यवस्था न होगी। यह गुण कर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा मे नियत करनी चाहिये और इसी क्रम से अर्थात् ब्राह्मण वर्ण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय वर्ण का क्षत्रिया, वैश्य वर्ण का वैश्या, शूद्र वर्ण का शूद्रा के साथ विवाह होना चाहिये तभी अपने २ वर्णों के कर्म और परस्पर प्रीति भी यथायोग्य रहेगी। इन चारों वर्णों के कर्त्तव्य कर्म और गुण ये हैं:—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मण ना। ८५

मनु० [१

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च । ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ २ ॥

भ० गी० [अध्याय १८ । श्लोक ४२]

ब्राह्मण के पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, दान देना, लेना, ये छः कर्म हैं परन्तु "प्रतिग्रहः प्रत्यवरः" मनु० । अर्थात् (प्रतिग्रह) लेना नीच कर्म है ॥ १ ॥ (शमः) मन से बुरे काम की इच्छा भी न करनी और उसको अधर्म्म में कभी प्रवृत्त न होने देना (दमः) श्रोत्र और चक्षु आदि इन्द्रियों को अन्यायाचरण से रोक कर धर्म्म में चलाना (तपः) सदा ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय होके धर्मानुष्ठान करना (शौच)—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति । विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥

मनु० [५ । १०९]

जल से बाहर के अङ्ग, सत्याचार से मन, विद्या और धर्मानुष्ठान से जीवात्मा और ज्ञान से बुद्धि पवित्र होती है । भीतर रागद्वेषादि दोष और बाहर के मलों को दूर कर शुद्ध रहना अर्थात् सत्यासत्य के विवेकपूर्वक सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग से निश्चय पवित्र होता है । (क्षान्ति) अर्थात् निन्दा स्तुति सुख दुःख शीतोष्ण क्षुधा तृषा हानि लाभ मानापमान आदि हर्ष शोक छोड़ के धर्म्म मे दृढ़ निश्चय रहना (आर्जव) कोमलता निरभिमान सरलता सरलस्वभाव रखना कुटिलतादि दोष छोड़ देना (ज्ञान) सब वेदादि शास्त्रों को साङ्गोपाङ्ग पढ़के पढ़ाने का सामर्थ्य विवेक सत्य का निर्णय जो वस्तु जैसा हो अर्थात् जड़ को जड़ चेतन को चेतन जानना और मानना (विज्ञान) पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्य्यन्त पदार्थों को विशेषता से जानकर उनसे यथायोग्य उपयोग लेना (आस्तिक्य) कभी वेद, ईश्वर, मुक्ति, पूर्व परजन्म, धर्म, विद्या, सत्सङ्ग, माता, पिता, आचार्य्य और अतिथियों की सेवा को न छोड़ना और निन्दा कभी न करना ॥ २ ॥ ये पन्द्रह कर्म और गुण ब्राह्मण वर्णस्थ मनुष्यों में अवश्य होने चाहियें ॥ क्षत्रिय—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च । विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः । [मनु० १ । ८९]

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् । दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ २ ॥

भ० गी० [अध्याय १८ । श्लोक ४३]

न्याय से प्रजा की रक्षा अर्थात् पक्षपात छोड़ के श्रेष्ठों का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना सब प्रकार से सब का पालन (दान) विद्या धर्म की प्रवृत्ति और सुपात्रों की सेवा में धनादि पदार्थों का व्यय करना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञ करना वा कराना (अध्ययन) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना तथा पढ़वाना और (विषयेषु०) विषयों में न फँस कर जितेन्द्रिय रह के सदा शरीर और आत्मा से बलवान् रहना ॥ १ ॥ (शौर्य्य) सैकड़ों सहस्रों से भी युद्ध करने मे अकेला भय न होना (तेजः) सदा तेजस्वी अर्थात् दीनतारहित प्रगल्भ दृढ़ रहना (धृति) धैर्य्यवान् होना (दाक्ष्य) राजा और प्रजासम्बन्धी व्यवहार और सब शास्त्रों में अति चतुर होना (युद्धे) युद्ध में भी दृढ़ निःशंक रहके उससे कभी न हटना न भागना अर्थात् इस प्रकार से लड़ना कि जिससे निश्चित विजय होवे आप बचे जो भागने से वा शत्रुओं को धोखा देने से जीत होती हो तो ऐसा ही करना (दान) दानशीलता रखना (ईश्वरभाव) पक्षपातरहित होके सब के साथ यथायोग्य वर्त्तना, विचार के देना, प्रतिज्ञा पूरी करना उसको कभी भङ्ग होने न देना । ये ग्यारह क्षत्रिय वर्ण के कर्म और गुण हैं ॥ २ ॥ वैश्यः—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च । वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च । मनु० [१ । ९०]

(पशुरक्षा) गाय आदि पशुओं का पालन वर्द्धन करना (दान) विद्या धर्म की वृद्धि करने कराने के लिये धनादि का व्यय करना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना (अध्ययन) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना (वणिक्पथ) सब प्रकार के व्यापार करना (कुसीद) एक सैकड़े में चार, छः, आठ, बारह, सोलह वा बीस आनों से अधिक व्याज और मूल से दूना अर्थात् एक रुपया दिया हो तो सौ वर्ष में भी दो रुपये से अधिक न लेना और देना (कृषि) खेती करना, ये वैश्य के गुण कर्म हैं ॥ शूद्रः—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् । एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ मनु० [१ । ९१]

शूद्र को योग्य है कि निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान आदि दोषों को छोड़ के ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा यथावत् करना और उसी से अपना जीवन करना यही एक शूद्र का गुण, कर्म है ॥ ये संक्षेप से वर्णों के गुण और कर्म लिखे । जिस २ पुरुष में जिस २ वर्ण के गुण कर्म हों उस २ वर्ण का अधिकार देना । ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं । क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोषयुक्त होंगे तो शूद्र होजायेंगे और सन्तान भी डरते रहेंगे कि जो हम उक्त चाल चलन और विद्यायुक्त न होंगे तो शूद्र होना पड़ेगा । और नीच वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिये उत्साह बढ़ेगा । विद्या और धर्म के प्रचार का अधिकार ब्राह्मण को देना क्योंकि वे पूर्ण विद्यावान् और धार्मिक होने से उस काम को यथायोग्य कर सकते हैं । क्षत्रियों को राज्य के अधिकार देने से कभी राज्य की हानि वा विघ्न नहीं होता । पशुपालनादि का अधिकार वैश्यों ही को होना योग्य है क्योंकि वे इस काम को अच्छे प्रकार कर सकते हैं । शूद्र को सेवा का अधिकार इसलिये है कि वह विद्यारहित मूर्ख होने से विज्ञानसम्बन्धी काम कुछ भी नहीं कर सकता किन्तु शरीर के काम सब कर सकता है । इस प्रकार वर्णों को अपने अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि का काम है ॥

विवाह के लक्षण

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽसुरः । गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥
मनु० [३ । २१]

विवाह आठ प्रकार का होता है एक ब्राह्म, दूसरा दैव, तीसरा आर्ष, चौथा प्राजापत्य, पांचवां आसुर, छठा गान्धर्व, सातवां राक्षस, आठवां पैशाच । इन में से विवाहों की यह व्यवस्था है कि—वर कन्या दोनों यथावत् ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्वान् धार्मिक और सुशील हों उनका परस्पर प्रसन्नता से विवाह होना "ब्राह्म" कहाता है । विस्तृत यज्ञ करने में ऋत्विक् कर्म करते हुए जामाता को अलङ्कारयुक्त कन्या का देना "दैव" । वर से कुछ लेकर विवाह होना "आर्ष" । दोनों का विवाह धर्म की वृद्धि के अर्थ होना "प्राजापत्य" । वर और कन्या को कुछ देके विवाह होना "आसुर" । अनियम, असमय किसी कारण से दोनों की इच्छापूर्वक वर कन्या का परस्पर संयोग होना "गान्धर्व" । लड़ाई करके बलात्कार अर्थात् छीन झपट वा कपट से कन्या का ग्रहण करना "राक्षस" । शयन वा मद्यादि पी हुई पागल कन्या से बलात्कार संयोग करना "पैशाच" । इन सब विवाहों में ब्राह्मविवाह सर्वोत्कृष्ट, दैव और प्राजापत्य मध्यम, आर्ष, आसुर और गान्धर्व निकृष्ट, राक्षस अधम और पैशाच महाभ्रष्ट है । इसलिये यही निश्चय रखना चाहिये कि कन्या और वर का विवाह के पूर्व एकान्त में मेल न होना चाहिये क्योंकि युवावस्था में स्त्री पुरुष का एकान्तवास दूषणकारक है । परन्तु जब कन्या वा वर के विवाह का समय हो अर्थात् जब एक वर्ष वा छः महीने ब्रह्मचर्याश्रम और विद्या पूरी होने में शेष रहें तब उन कन्या

और कुमारों का प्रतिबिम्ब अर्थात् जिसको "फोटोग्राफ" कहते हैं अथवा प्रतिकृति उतार के कन्याओं की अध्यापिकाओं के पास कुमारों की, कुमारों के अध्यापकों के पास कन्याओं की प्रतिकृति भेज दें जिस २ का रूप मिल जाय उस २ के इतिहास अर्थात् जो जन्म से लेके उस दिन पर्यन्त जन्मचरित्र का पुस्तक हो उनको अध्यापक लोग मंगवा के देखें जब दोनों के गुण कर्म स्वभाव सदृश हों तब जिस २ के साथ जिस २ का विवाह होना योग्य समझें उस २ पुरुष और कन्या का प्रतिबिम्ब और इतिहास कन्या और वर के हाथ में देवें और कहें कि इस में जो तुम्हारा अभिप्राय हो सो हमको विदित कर देना। जब उन दोनो का निश्चय परस्पर विवाह करने का होजाय तब उन दोनों का समावर्त्तन एक ही समय मे होवे। जो वे दोनो अध्यापकों के सामने विवाह करना चाहें तो वहां, नहीं तो कन्या के माता पिता के घर में विवाह होना योग्य है। जब वे समक्ष हों तब उन अध्यापकों वा कन्या के माता पिता और भद्रपुरुषों के सामने उन दोनों की आपस में बात चीत, शास्त्रार्थ कराना और जो कुछ गुप्त व्यवहार पूछें सो भी सभा मे लिखके एक दूसरे के हाथ में देकर प्रश्नोत्तर कर लेवे। जब दोनों का दृढ़ प्रेम विवाह करने में होजाय तब से उनके खानपान का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिये कि जिससे उनका शरीर जो पूर्व ब्रह्मचर्य और विद्याध्ययनरूप तपश्चर्या और कष्ट से दुर्बल होता है वह चन्द्रमा की कला के समान बढ़ के थोड़े ही दिनो में पुष्ट होजाय। पश्चात् जिस दिन कन्या रजस्वला होकर जब शुद्ध हो तब वेदी और मण्डप रचके अनेक सुगन्धादि द्रव्य और घृतादि का होम तथा अनेक विद्वान् पुरुष और स्त्रियों का यथायोग्य सत्कार करें। पश्चात् जिस दिन ऋतुदान देना योग्य समझें उसी दिन "संस्कारविधि" पुस्तकस्थ विधि के अनुसार सब कर्म करके मध्य रात्रि वा दश बजे अति प्रसन्नता से सब के सामने पाणिग्रहणपूर्वक विवाह की विधि को पूरा करके एकान्तसेवन करें। पुरुष वीर्य्यस्थापन और स्त्री वीर्याकर्षण की जो विधि है उसीके अनुसार दोनो करें। जहांतक बने वहांतक ब्रह्मचर्य के वीर्य को व्यर्थ न जाने दें क्योंकि उस वीर्य का रज से जो शरीर उत्पन्न होता है वह अपूर्व उत्तम सन्तान होता है। जब वीर्य का गर्भाशय में गिरने का समय हो उस समय स्त्री पुरुष दोनों स्थिर और नासिका के सामने नासिका, नेत्र के सामने नेत्र अर्थात् सूधा शरीर और अत्यन्त प्रसन्नचित्त रहे, डिगें नहीं पुरुष अपने शरीर को ढीला छोड़े और स्त्री वीर्य्यप्राप्ति समय अपान वायु को ऊपर खींचे। योनि को ऊपर संकोच कर वीर्य्य का ऊपर आकर्षण कर के गर्भाशय मे स्थिति करे *। पश्चात् दोनों शुद्ध जल से स्नान करें। गर्भस्थिति होने का परिज्ञान विदुषी स्त्री को तो उसी समय होजाता है परन्तु इसका निश्चय एक मास के पश्चात् रजस्वला न होने पर सब को हो जाता है। सोंठ, केसर, असगन्ध, सफेद इलायची और सालममिश्री डाल गर्म कर रक्खा हुआ जो ठण्डा दूध है उसको यथारुचि दोनों पी के अलग अलग अपनी २ शय्या मे शयन करें। यही विधि जब २ गर्भाधान क्रिया करें तब २ करना उचित है जब महीने भर में रजस्वला न होने से गर्भस्थिति का निश्चय होजाय तब से एक वर्ष पर्य्यन्त स्त्री पुरुष का समागम कभी न होना चाहिये। क्योंकि ऐसा होने से सन्तान उत्तम और पुनः दूसरा सन्तान भी वैसा ही होता है। अन्यथा वीर्य्य व्यर्थ जाता दोनो की आयु घट जाती और अनेक प्रकार के रोग होते हैं परन्तु ऊपर से भाषणादि प्रेमयुक्त व्यवहार अवश्य रखना चाहिये। पुरुष वीर्य्य की स्थिति और स्त्री गर्भ की रक्षा और भोजन छादन इस प्रकार का करे कि जिससे पुरुष का वीर्य्य स्वप्न में भी नष्ट न हो और गर्भ में बालक का शरीर अत्युत्तम रूप, लावण्य, पुष्टि, बल, पराक्रमयुक्त होकर दशवें महीने में जन्म होवे। विशेष उसकी रक्षा चौथे महीने से और अतिविशेष आठवें महीने से आगे करनी चा

* यह बात रहस्य की है इसलिये इतने ही से समग्र बातें समझ लेना चाहिये विशेष लिखना उचित नहीं।

हिये। कभी गर्भवती स्त्री रेचक, रूत्त, मादकद्रव्य, बुद्धि और बलनाशक पदार्थों के भोजनादि का सेवन न करे किन्तु घी, दूध, उत्तम चावल, गेहूं, मूंग, उर्द आदि अन्न पान और देश काल का भी सेवन युक्तिपूर्वक करे। गर्भ में दो संस्कार एक चौथे महीने में पुंसवन और दूसरा आठवें महीने में सीमन्तोन्नयन विधि के अनुकूल करे। जब सन्तान का जन्म हो तब स्त्री और लड़के के शरीर की रक्षा बहुत सावधानी से करे अर्थात् शुण्ठीपाक अथवा सौभाग्य शुण्ठीपाक प्रथम ही बनवा रक्खे उस समय सुगन्धियुक्त उष्ण जल जो कि किञ्चित् उष्ण रहा हो उसी से स्त्री स्नान करे और बालक को भी स्नान करावे। तत्पश्चात् नाड़ीछेदन बालक की नाभि के जड़ में एक कोमल सूत से बांध चार अंगुल छोड़ के ऊपर से काट डाले। उसको ऐसा बांधे कि जिससे शरीर से रुधिर का एक बिन्दु भी न जाने पावे। पश्चात् उस स्थान को शुद्ध करके उसके द्वार के भीतर सुगन्धादियुक्त घृतादि का होम करे। तत्पश्चात् सन्तान के कान में पिता "वेदोसीति" अर्थात् 'तेरा नाम वेद है' सुनाकर घी और सहत को लेके सोने की शलाका से जीभ पर "ओ३म्" अक्षर लिखकर मधु और घृत को उसी शलाका से चटवावे। पश्चात् उसकी माता को देदेवे। जो दूध पीना चाहे तो उसकी माता पिलावे, जो उसकी माता के दूध न हो तो किसी स्त्री की परीक्षा करके उसका दूध पिलावे। पश्चात् दूसरी शुद्ध कोठरी वा कमरे में कि जहां का वायु शुद्ध हो उसमें सुगन्धित घी का होम प्रातः और सायंकाल किया करे और उसी में प्रसूता स्त्री तथा बालक को रक्खे। छः दिन तक माता का दूध पिये और स्त्री भी अपने शरीर की पुष्टि के अर्थ अनेक प्रकार के उत्तम भोजन करे और योनिसंकोचादि भी करे। छठे दिन स्त्री बाहर निकले और सन्तान के दूध पीने के लिये कोई धायी रक्खे। उसको खान पान अच्छा करावे। वह सन्तान को दूध पिलाया करे और पालन भी करे परन्तु उसकी माता लड़के पर पूर्णदृष्टि रक्खे किसी प्रकार का अनुचित व्यवहार उसके पालन में न हो। स्त्री दूध बन्द करने के अर्थ स्तन के अग्रभाग पर ऐसा लेप करे कि जिससे दूध स्रवित न हो। उसी प्रकार का खान पान का व्यवहार भी यथायोग्य रक्खे। पश्चात् नामकरणादि संस्कार "संस्कारविधि" की रीति से यथाकाल करता जाय। जब स्त्री फिर रजस्वला हो तब शुद्ध होने के पश्चात् उसी प्रकार ऋतुदान देवे ॥

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा। ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥
मनु० [३ । ५०]

जो अपनी ही स्त्री से प्रसन्न और ऋतुगामी होता है वह गृहस्थ भी ब्रह्मचारी के सदृश है ॥

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च। यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ १ ॥
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसन्न प्रमोदयेत्। अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥ २ ॥
स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्। तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ३ ॥
मनु० [३ । ६०-६२]

जिस कुल में भार्य्या से भर्त्ता और पति से पत्नी अच्छे प्रकार प्रसन्न रहती है उसी कुल में सब सौभाग्य और ऐश्वर्य निवास करते हैं। जहां कलह होता है वहां दौर्भाग्य और दारिद्र्य स्थिर होता है ॥ १ ॥ जो स्त्री पति से प्रीति और पति को प्रसन्न नहीं करती तो पति के अप्रसन्न होने से काम उत्पन्न नहीं होता ॥ २ ॥ जिस स्त्री की प्रसन्नता में सब कुल प्रसन्न होता उसकी अप्रसन्नता सब अप्रसन्न अर्थात् दुःखदायक होजाता है ॥ ३ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा । पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ १ ॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः । यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ॥ २ ॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् । न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥ ३ ॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः । भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ४ ॥
मनु० [३ । ५५–५७ । ५९]

पिता, भाई, पति और देवर इनको सत्कारपूर्वक भूषणादि से प्रसन्न रक्खें, जिनको बहुत कल्याण की इच्छा हो वे ऐसे करें ॥ १ ॥ जिस घर में स्त्रियों का सत्कार होता है उसमें विद्यायुक्त पुरुष होके देवसंज्ञा धरा के आनन्द से क्रीड़ा करते हैं और जिस घर में स्त्रियों का सत्कार नहीं होता वहां सब क्रिया निष्फल होजाती हैं ॥ २ ॥ जिस घर वा कुल में स्त्री लोग शोकातुर होकर दुःख पाती हैं वह कुल शीघ्र नष्ट भ्रष्ट होजाता है और जिस घर वा कुल में स्त्री लोग आनन्द से उत्साह और प्रसन्नता से भरी हुई रहती हैं वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है ॥ ३ ॥ इसलिये ऐश्वर्य की कामना करनेहारे मनुष्यों को योग्य है कि सत्कार और उत्सव के समयों में भूषण वस्त्र और भोजनादि से स्त्रियों का नित्य प्रति सत्कार करें ॥ ४ ॥ यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि "पूजा" शब्द का अर्थ सत्कार है और दिन रात में जब २ प्रथम मिलें वा पृथक् हों तब २ प्रीतिपूर्वक "नमस्ते" एक दूसरे से करें ॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया । सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ [मनु० ५ । १५०]

स्त्री को योग्य है कि अतिप्रसन्नता से घर के कामों में चतुराईयुक्त सब पदार्थों के उत्तम संस्कार तथा घर की शुद्धि रक्खे और व्यय में अत्यन्त उदार [न] रहे अर्थात् [यथायोग्य खर्च करे और] सब चीज़ें पवित्र और पाक इस प्रकार बनावे जो औषधिरूप होकर शरीर वा आत्मा में रोग को न आने देवे, जो जो व्यय हो उस का हिसाब यथावत् रखके पति आदि को सुना दिया करे घर के नौकर चाकरों से यथायोग्य काम लेवे घर के किसी काम को बिगड़ने न देवे ॥

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या सत्यं शौचं सुभाषितम् । विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥
मनु० [२ । २४०]

उत्तम स्त्री, नाना प्रकार के रत्न, विद्या, सत्य, पवित्रता, श्रेष्ठभाषण और नाना प्रकार की शिल्पविद्या अर्थात् कारीगरी सब देश तथा सब मनुष्यों से ग्रहण करे ॥

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् । प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ १ ॥
भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत् । शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह ॥ २ ॥
मनु० [४ । १३८ । १३९]

सदा प्रिय सत्य दूसरे का हितकारक बोले अप्रिय सत्य अर्थात् काणे को काणा न बोले, अनृत अर्थात् झूठ दूसरे को प्रसन्न करने के अर्थ न बोले ॥ १ ॥ सदा भद्र अर्थात् सब के हितकारी वचन बोला करे शुष्कवैर अर्थात् विना अपराध किसी के साथ विरोध वा विवाद न करे । जो २ दूसरे का हितकारक हो और बुरा भी माने तथापि कहे विना न रहे ॥ २ ॥

पुरुषा बहवो राजन् सततं प्रियवादिनः । अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥
उद्योगपर्व–विदुरनीति० ॥

हे धृतराष्ट्र ! इस संसार में दूसरे को निरन्तर प्रसन्न करने के लिये प्रिय बोलने वाले प्रशंसक लोग बहुत हैं परन्तु सुनने में अप्रिय विदित हो और वह कल्याण करनेवाला वचन हो उसका कहने और सुननेवाला पुरुष दुर्लभ है। क्योंकि सत्पुरुषों को योग्य है कि मुख के सामने दूसरे का दोष कहना और अपना दोष सुनना परोक्ष में दूसरे के गुण सदा कहना। और दुष्टों की यही रीति है कि सम्मुख मे गुण कहना और परोक्ष में दोषों का प्रकाश करना। जबतक मनुष्य दूसरे से अपने दोष नहीं कहता तबतक मनुष्य दोषों से छूटकर गुणी नहीं हो सकता। कभी किसी की निन्दा न करे जैसे:—

"गुणेषु दोषारोपणमसूया" अर्थात् "दोषेषु गुणारोपणमप्यसूया" "गुणेषु गुणारोपणं दोषेषु दोषारोपणं च स्तुतिः" जो गुणों में दोष दोषों में गुण लगाना वह निन्दा और गुणों में गुण दोषों में दोषों का कथन करना स्तुति कहाती है अर्थात् मिथ्याभाषण का नाम निन्दा और सत्यभाषण का नाम स्तुति है॥

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च। नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान्॥१॥
यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति। तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते॥२॥
मनु० [४ । १९ । २०]

जो शीघ्र बुद्धि धन और हित की वृद्धि करनेहारे शास्त्र और वेद हैं उनको नित्य सुनें और सुनावें ब्रह्मचर्य्याश्रम में पढ़े हों उनको स्त्री पुरुष नित्य विचारा और पढ़ाया करें॥ १॥ क्योंकि जैसे २ मनुष्य शास्त्रों को यथावत् जानता है वैसे २ उस विद्या का विज्ञान बढ़ता जाता और उसी में रुचि बढ़ती रहती है॥ २॥

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा। नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥ १॥
मनु० [४ । २१]
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञश्च तर्प्पणम्। होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ २॥
मनु० [३ । ७०]
स्वाध्यायेनार्चयेदृषीन् होमैर्देवान् यथाविधि। पितॄन् श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥ ३॥
मनु० [३ । ८१]

दो यज्ञ ब्रह्मचर्य मे लिख आये वे अर्थात् एक वेदादि शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना संध्योपासन योगाभ्यास, दूसरा देवयज्ञ विद्वानों का संग सेवा पवित्रता दिव्य गुणों का धारण दातृत्व विद्या की उन्नति करना है ये दोनों यज्ञ सायं प्रातः करने होते हैं॥

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता॥ १॥ प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनसस्य दाता॥ २॥ अ० कां० १९। अनु० ७। मं० ३। ४॥
तस्मादहोरात्रस्य संयोगे ब्राह्मणः सन्ध्यामुपासीत। उद्यन्तमस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायन्॥३॥
ब्राह्मणे [षड्विंशब्राह्मणे प्र० ४। खं० ५]
न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यस्तु पश्चिमाम्। स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥४॥
मनु० [२ । १०३]

जो सन्ध्या २ काल में होम होता है वह हुत द्रव्य प्रातःकाल तक वायुशुद्धि द्वारा सुखकारी होता है॥ १॥ जो अग्नि में प्रातः २ काल में होम किया जाता है वह २ हुत द्रव्य सायङ्काल

वायु की शुद्धि द्वारा बल बुद्धि और आरोग्यकारक होता है ॥ २ ॥ इसीलिये दिन और रात्रि के सन्धि में अर्थात् सूर्योदय और अस्त समय में परमेश्वर का ध्यान और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिये ॥ ३ ॥ और जो ये दोनों काम सायं और प्रातःकाल में न करे उसको सज्जन लोग सब द्विजों के कर्मों से बाहर निकाल देवें अर्थात् उसे शूद्रवत् समझें ॥ ४ ॥ (प्रश्न) त्रिकाल सन्ध्या क्यों नहीं करना ? (उत्तर) तीन समय में सन्धि नहीं होती प्रकाश और अन्धकार की सन्धि भी सायं प्रातः दो ही वेला में होती है। जो इसको न मानकर, मध्याह्नकाल में, तीसरी सन्ध्या माने वह मध्यरात्रि में भी संध्योपासन क्यों न करे ? जो मध्यरात्रि में भी करना चाहे तो प्रहर २ घड़ी २ पल २ और क्षण २ की भी सन्धि होती हैं, उनमें भी सन्ध्योपासन किया करे। जो ऐसा भी करना चाहे तो होही नहीं सकता और किसी शास्त्र का मध्याह्नसंध्या में प्रमाण भी नहीं इसलिये दोनों कालों में संध्या और अग्निहोत्र करना समुचित है, तीसरे काल में नहीं। और जो तीन काल होते हैं वे भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान के भेद से हैं संध्योपासन के भेद से नहीं। तीसरा "पितृयज्ञ" अर्थात् जिस में देव जो विद्वान्, ऋषि जो पढ़ने पढ़ाने हारे, पितर जो माता पिता आदि वृद्ध ज्ञानी और परम योगियों की सेवा करनी। पितृयज्ञ के दो भेद हैं एक श्राद्ध और दूसरा तर्पण। श्राद्ध अर्थात् "श्रत्" सत्य का नाम है "श्रत्सत्यं दधाति यया क्रियया सा श्रद्धा श्रद्धया यत् क्रियते तच्छ्राद्धम्" जिस क्रिया से सत्य का ग्रहण किया जाय उसको श्रद्धा और जो श्रद्धा से कर्म किया जाय उसका नाम श्राद्ध है। और "तृप्यन्ति तर्पयन्ति येन पितॄन् तत्तर्पणम्" जिस जिस कर्म से तृप्त अर्थात् विद्यमान माता पितादि पितर प्रसन्न हों और प्रसन्न किये जायँ उसका नाम तर्पण है, परन्तु यह जीवितों के लिये हैं मृतकों के लिये नहीं ॥

ओं ब्रह्मादयो देवास्तृप्यन्ताम् । ब्रह्मादिदेवपत्न्यस्तृप्यन्ताम् । ब्रह्मादिदेवसुतास्तृप्यन्ताम् । ब्रह्मादिदेवगणास्तृप्यन्ताम् ॥

इति देवतर्पणम्

"विद्वाꣳसो हि देवाः" यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है—जो विद्वान् हैं उन्हीं को देव कहते हैं जो साङ्गोपाङ्ग चार वेदों के जानने वाले हों उनका नाम ब्रह्मा और जो उनसे न्यून पढ़े हों उनका भी नाम देव अर्थात् विद्वान् है। उनके सदृश उनकी विदुषी स्त्री ब्राह्मणी देवी और उनके तुल्य पुत्र और शिष्य तथा उनके सदृश उनके गण अर्थात् सेवक हों उनकी सेवा करना है उसका नाम श्राद्ध और तर्पण है ॥

अथर्षितर्पणम्

ओं मरीच्यादय ऋषयस्तृप्यन्ताम् । मरीच्यादृषिपत्न्यस्तृप्यन्ताम् । मरीच्यादृषिसुतास्तृप्यन्ताम् । मरीच्यादृषिगणास्तृप्यन्ताम् ॥

इति ऋषितर्पणम्

जो ब्रह्मा के प्रपौत्र मरीचिवत् विद्वान् होकर पढ़ावें और जो उनके सदृश विद्यायुक्त उनकी स्त्रियां कन्याओं को विद्यादान देवें उनके तुल्य पुत्र और शिष्य तथा उनके समान उनके सेवक हों उनका सेवन और सत्कार करना ऋषितर्पण है।

अथ पितृतर्पणम्

ओं सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम् । अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम् । बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम् ।

सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम् । हविर्भुजः पितरस्तृप्यन्ताम् । आज्यपाः पितरस्तृप्यन्ताम् । [सुकालिनः पितरस्तृप्यन्ताम् ।] यमादिभ्यो नमः यमादींस्तर्पयामि । पित्रे स्वधा नमः पितरं तर्पयामि । पितामहाय स्वधा नमः पितामहं तर्पयामि । [प्रपितामहाय स्वधा नमः प्रपितामहं तर्पयामि ।] मात्रे स्वधा नमो मातरं तर्प्पयामि । पितामह्यै स्वधा नमः पितामहीं तर्प्पयामि । [प्रपितामह्यै स्वधा नमः प्रपितामहीं तर्प्पयामि ।] स्वपत्न्यै स्वधा नमः स्वपत्नीं तर्प्पयामि । सम्बन्धिभ्यः स्वधा नमः सम्बन्धिनस्तर्प्पयामि । सगोत्रेभ्यः स्वधा नमः सगोत्रांस्तर्प्पयामि ॥

इति पितृतर्प्पणम्

"ये सोमे जगदीश्वरे पदार्थविद्यायां च सीदन्ति ते सोमसदः" जो परमात्मा और पदार्थविद्या में निपुण हों वे सोमसद् । "यैरग्नेर्विद्युतो विद्या गृहीता ते अग्निष्वात्ताः" जो अग्नि अर्थात् विद्युदादि पदार्थों के जाननेवाले हों वे अग्निष्वात्त । "ये बर्हिषि उत्तमे व्यवहारे सीदन्ति ते बर्हिषदः" जो उत्तम विद्यावृद्धियुक्त व्यवहार में स्थित हों वे बर्हिषद् । "ये सोममैश्वर्यमोषधीरसं वा पान्ति पिबन्ति वा ते सोमपाः" जो ऐश्वर्य्य के रक्षक और महौषधि रस का पान करने से रोगरहित और अन्य के ऐश्वर्य के रक्षक औषधों को देके रोगनाशक हों वे सोमपा। "ये हविर्होतुमत्तुमर्हं भुञ्जते भोजयन्ति वा ते हविर्भुजः" जो मादक और हिंसाकारक द्रव्यों को छोड़ के भोजन करनेहारे हों वे हविर्भुज । "य आज्यं ज्ञातुं प्राप्तुं वा योग्यं रक्षन्ति वा पिबन्ति त आज्यपाः" जो जानने के योग्य वस्तु के रक्षक और घृत दुग्धादि खाने और पीनेहारे हों वे आज्यपाः । "शोभनः कालो विद्यते येषान्ते सुकालिनः" जिनका अच्छा धर्म करने का सुखरूप समय हो वे सुकालिन् । ये दुष्टान् यच्छन्ति निगृह्णन्ति ते यमा न्यायाधीशाः" जो दुष्टों को दण्ड और श्रेष्ठों का पालन करनेहारे न्यायकारी हों वे यम । "यः पाति स पिता" जो सन्तानों का अन्न और सत्कार से रक्षक वा जनक हो वह पिता । "पितुः पिता पितामहः पितामहस्य पिता प्रपितामहः" जो पिता का पिता हो वह पितामह और जो पितामह का पिता हो वह प्रपितामह "या मानयति सा माता" जो अन्न और सत्कारों से सन्तानों का मान्य करे वह माता । "या पितुर्माता सा पितामही पितामहस्य माता प्रपितामही" जो पिता की माता हो वह पितामही और पितामह की माता हो वह प्रपितामही । अपनी स्त्री तथा भगिनी सम्बन्धी और एक गोत्र के तथा अन्य कोई भद्र पुरुष वा वृद्ध हों उन सबको अत्यन्त श्रद्धा से उत्तम अन्न, वस्त्र, सुन्दर यान आदि देकर अच्छे प्रकार जो तृप्त करना अर्थात् जिस २ कर्म से उनका आत्मा तृप्त और शरीर स्वस्थ रहे उस २ कर्म से प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करनी वह श्राद्ध और तर्प्पण कहाता है ॥

चौथा वैश्वदेव—अर्थात् जब भोजन सिद्ध हो तब जो कुछ भोजनार्थ बने उसमें से खट्टा लवणान्न और क्षार को छोड़ के घृत मिष्टयुक्त अन्न लेकर चूल्हे से अग्नि अलग धर निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति और भाग करे ।

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् । आभ्यः कुर्य्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥

मनु० [३ । ८४]

जो कुछ पाकशाला में भोजनार्थ सिद्ध हो उसका दिव्य गुणों के अर्थ उसी पाकाग्नि में निम्नलिखित मन्त्रों से विधिपूर्वक होम नित्य करे—

होम करने के मन्त्र

ओं अग्नये स्वाहा । सोमाय स्वाहा । अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा । विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा । धन्वन्तरये स्वाहा । कुह्वै स्वाहा । अनुमत्यै स्वाहा । प्रजापतये स्वाहा । सह द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा । स्विष्टकृते स्वाहा ॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक २ वार आहुति प्रज्वलित अग्नि में छोड़े पश्चात् थाली अथवा भूमि में पत्ता रख के पूर्व दिशादि क्रमानुसार यथाक्रम इन मन्त्रों से भाग रक्खे:—

ओं सानुगायेन्द्राय नमः । सानुगाय यमाय नमः । सानुगाय वरुणाय नमः । सानुगाय सोमाय नमः । मरुद्भ्यो नमः । अद्भ्यो नमः । वनस्पतिभ्यो नमः । श्रियै नमः । भद्रकाल्यै नमः । ब्रह्मपतये नमः । वास्तुपतये नमः । विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः । दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः । नक्तञ्चारिभ्यो भूतेभ्यो नमः । सर्वात्मभूतये नमः ॥

इन भागों को जो कोई अतिथि हो तो उसको जिमा देवे अथवा अग्नि में छोड़ देवे । इसके अनन्तर लवणान्न अर्थात् दाल, भात, शाक, रोटी आदि लेकर छः भाग भूमि में धरे । इसमें प्रमाण—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् । वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥
मनु० [३ । ९२]

इस प्रकार "श्वभ्यो नमः, पतितेभ्यो नमः, श्वपग्भ्यो नमः, पापरोगिभ्यो नमः, वायसेभ्यो नमः, कृमिभ्यो नमः" धरकर पश्चात् किसी दुःखी, बुभुक्षित प्राणी अथवा कुत्ते कौवे आदि को देवे । यहां नमः शब्द का अर्थ-अन्न अर्थात् कुत्ते, पापी, चांडाल, पापरोगी, कौवे और कृमि अर्थात् चींटी आदि को अन्न देना यह मनुस्मृति आदि की विधि है । हवन करने का प्रयोजन यह है कि पाकशालास्थ वायु का शुद्ध होना और जो अज्ञात अदृष्ट जीवों की हत्या होती है उसका प्रत्युपकार कर देना ॥

अब पांचवीं अतिथिसेवा—अतिथि उसको कहते हैं कि जिसकी कोई तिथि निश्चित न हो अर्थात् अकस्मात् धार्मिक, सत्योपदेशक, सब के उपकारार्थ सर्वत्र घूमने वाला पूर्णविद्वान्, परमयोगी, संन्यासी गृहस्थ के यहां आवे तो उसको प्रथम पाद्य अर्घ और आचमनीय तीन प्रकार का जल देकर पश्चात् आसन पर सत्कारपूर्वक बिठाल कर खान पान आदि उत्तमोत्तम पदार्थों से सेवा शुश्रूषा करके उसको प्रसन्न करे । पश्चात् सत्सङ्ग कर उनसे ज्ञान विज्ञान आदि जिनसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होवे ऐसे ऐसे उपदेशों का श्रवण करे और अपना चाल चलन भी उनके सदुपदेशानुसार रक्खे । समय पाके गृहस्थ और राजादि भी अतिथिवत् सत्कार करने योग्य हैं परन्तु—

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालवृत्तिकान् शठान् । हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ।
मनु० [४ । ३०]

(पाषण्डी) अर्थात् वेदनिन्दक, वेदविरुद्ध आचरण करनेहारा (विकर्मस्थ) जो वेदविरुद्ध कर्म का कर्त्ता मिथ्याभाषणादि युक्त जैसे बिडाला छिप और स्थिर रहकर ताकता २ झपट से मूषे आदि प्राणियों को मार अपना पेट भरता है वैसे जनों का नाम वैडालवृत्तिक (शठ) अर्थात् हठी, दुराग्रही, अभिमानी, आप जानें नहीं औरों का कहा मानें नहीं (हैतुक) कुतर्की व्यर्थ बकनेवाले जैसे कि आजकल के वेदान्ती बकते हैं हम ब्रह्म और जगत् मिथ्या है वेदादि शास्त्र और ईश्वर भी कल्पित हैं इत्यादि गपोड़ा हांकनेवाले (बकवृत्ति) जैसे बक एक पैर उठा ध्यानावस्थित के समान होकर झट

मच्छी के प्राण हरके अपना स्वार्थ सिद्ध करता है वैसे आजकल के वैरागी और खाकी आदि हठी दुराग्रही वेदविरोधी हैं ऐसों का सत्कार वाणीमात्र से भी न करना चाहिये । क्योंकि इनका सत्कार करने से ये वृद्धि को पाकर संसार को अधर्मयुक्त करते हैं। आप तो अवनति के काम करते ही हैं परन्तु साथ में सेवक को भी अविद्यारूपी महासागर में डुबो देते हैं। इन पांच महायज्ञों का फल यह है कि ब्रह्मयज्ञ के करने से विद्या, शिक्षा, धर्म, सभ्यता आदि शुभ गुणों की वृद्धि । अग्निहोत्र से वायु, वृष्टि, जल की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा संसार को सुख प्राप्त होना अर्थात् शुद्ध वायु का श्वासस्पर्श खान पान से आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़ के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का अनुष्ठान पूरा होना इसीलिये इसको देवयज्ञ कहते हैं। पितृयज्ञ से जब माता पिता और ज्ञानी महात्माओं की सेवा करेगा तब उसका ज्ञान बढ़ेगा। उससे सत्यासत्य का निर्णय कर सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करके सुखी रहेगा। दूसरा कृतज्ञता अर्थात् जैसी सेवा माता पिता और आचार्य ने सन्तान और शिष्यों की की है उसका बदला देना उचित ही है। बलिवैश्वदेव का भी फल जो पूर्व कह आये वही है। जबतक उत्तम अतिथि जगत् में नहीं होते तबतक उन्नति भी नहीं होती उनके सब देशों में घूमने और सत्योपदेश करने से पाखण्ड की वृद्धि नहीं होती और सर्वत्र गृहस्थों को सहज से सत्य विज्ञान की प्राप्ति होती रहती है और मनुष्यमात्र में एक ही धर्म स्थिर रहता है। विना अतिथियों के सन्देहनिवृत्ति नहीं होती सन्देहनिवृत्ति के विना दृढ़ निश्चय भी नहीं होता। निश्चय के विना सुख कहां !

ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् । कायक्लेशाँश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥
मनु० [४ । ९२]

रात्रि के चौथे प्रहर अथवा चार घड़ी रात से उठे आवश्यक कार्य करके धर्म और अर्थ, शरीर के रोगों का निदान और परमात्मा का ध्यान करे कभी अधर्म का आचरण न करे क्योंकि:—

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव । शनैरावर्त्तमानस्तु कर्त्तुर्मूलानि कृन्तति ॥
मनु० [४ । १७२]

किया हुआ अधर्म निष्फल कभी नहीं होता परन्तु जिस समय अधर्म करता है उसी समय फल भी नहीं होता इसलिये अज्ञानी लोग अधर्म से नहीं डरते तथापि निश्चय जानो कि वह अधर्माचरण धीरे धीरे तुम्हारे सुख के मूलों को काटता चला जाता है। इस क्रम से—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति । ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥
मनु० [४ । १७४]

जब अधर्मात्मा मनुष्य धर्म की मर्यादा छोड़ (जैसे तालाब के बंध को तोड़ जल चारों ओर फैल जाता है वैसे) मिथ्याभाषण, कपट, पाखण्ड अर्थात् रक्षा करनेवाले वेदों का खण्डन और विश्वासघातादि कर्मों से पराये पदार्थों को लेकर प्रथम बढ़ता है, पश्चात् धनादि ऐश्वर्य से खान, पान, वस्त्र, आभूषण, यान, स्थान, मान, प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है अन्याय से शत्रुओं को भी जीतता है पश्चात् शीघ्र नष्ट हो जाता है जैसे जड़ काटा हुआ वृक्ष नष्ट हो जाता है वैसे अधर्मी नष्ट भ्रष्ट हो जाता है ॥

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा । शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥
मनु० [४ । १७५]

जो [विद्वान्] वेदोक्त सत्य धर्म अर्थात् पक्षपातरहित होकर सत्य के ग्रहण और के परित्याग न्यायरूप वेदोक्त धर्मादि आर्य अर्थात् धर्म में चलते हुए के समान धर्म से शिक्षा किया करे ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्य्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः । बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ॥ १
मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया । दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ २

मनु० [४ । १७९ । १८०]

(ऋत्विक्) यज्ञ का करनेहारा (पुरोहित) सदा उत्तम चाल चलन की शिक्षाक (आचार्य) विद्या पढ़ानेहारा (मातुल) मामा (अतिथि) अर्थात् जिसकी कोई आने जाने निश्चित तिथि न हो (संश्रित) अपने आश्रित (बाल) बालक (वृद्ध) बुड्ढा (आतुर) पी (वैद्य) आयुर्वेद का ज्ञाता (ज्ञाति) स्वगोत्र वा स्ववर्णस्थ (सम्बन्धी) श्वशुर आदि (बान्ध मित्र ॥ १ ॥ (माता) माता (पिता) पिता (यामी) बहिन (भ्राता) भाई (भार्या) स्त्री (दुहि पुत्री और सेवक लोगों से विवाद अर्थात् विरुद्ध लड़ाई बखेड़ा कभी न करे ॥ २ ॥

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः । अम्भस्यश्मप्लवेनैव सह तेनैव मज्जति ॥ मनु० [४ । १

एक (अतपाः) ब्रह्मचर्य्य सत्यभाषणादि तपरहित दूसरा (अनधीयानः) बिना पढ़ा तीसरा (प्रतिग्रहरुचिः) अत्यन्त धर्मार्थ दूसरों से दान लेनेवाला ये तीनों पत्थर की नौका से स मे तरने के समान अपने दुष्ट कर्मों के साथ ही दुःखसागर में डूबते हैं । वे तो डूबते ही हैं दाताओं को साथ डुबा लेते हैं:—

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम् । दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ मनु० [४ । १९३]

जो धर्म से प्राप्त हुए धन का उक्त तीनों को देना है वह दान दाता का नाश इसी जन्म लेनेवाले का नाश परजन्म में करता है ॥ जो वे ऐसे हों तो क्या हो —

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् । तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥

मनु० [४ । १९४]

जैसे पत्थर की नौका मे बैठ के जल मे तरनेवाला डूब जाता है वैसे अज्ञानी दाता ग्रहीता दोनो अधोगति अर्थात् दुःख को प्राप्त होते हैं ॥

पाखण्डियों के लक्षण ।

धर्मध्वजी सदालुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः । बैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः ॥ १ ॥
अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः । शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः ॥ २ ॥

मनु० [४ । १९५ । १९६]

(धर्मध्वजी) धर्म कुछ भी न करे परन्तु धर्म के नाम से लोगो को ठगे (सदालुब्धः) लोभ से युक्त (छाद्मिकः) कपटी (लोकदम्भकः) संसारी मनुष्य के सामने अपनी बड़ाई के गप मारा करे (हिंस्रः) प्राणियों का घातक अन्य से वैरबुद्धि रखनेवाला (सर्वाभिसन्धकः) सब और बुरों से भी मेल रक्खे उसको बैडालव्रतिक अर्थात् बिडाले के समान धूर्त और नीच समझो ॥ १ (अधोदृष्टिः) कीर्ति के लिये नीचे दृष्टि रक्खे (नैष्कृतिकः) ईर्ष्यक किसी ने उस का पैसा भर राध किया हो तो उसका बदला प्राण तक लेने को तत्पर रहै (स्वार्थसाधन०) चाहैं कपट विश्वासघात क्यों न हो अपना प्रयोजन साधने में चतुर (शठः) चाहैं अपनी बात झूंठी क्यों न परन्तु हठ कभी न छोड़े (मिथ्याविनीतः) झूंठ मूठ ऊपर से शील संतोष और साधुता दिखलावे

त-) बगुले के समान नीच समझो ऐसे २ लक्षणों वाले पाखण्डी होते हैं उनका विश्वास वा भी न करें ॥

र्म शनैः सञ्चिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः । परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ १ ॥
ामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः । न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ २ ॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते । एकोनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥ ३ ॥
मनु० [४ । २३८-२४०]

एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः । भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्त्ता दोषेण लिप्यते ॥४॥
[महाभारते उद्योगप० प्रजागरप० ॥ अ० ३२]

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ । विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥५॥
मनु० [४ । २४१]

स्त्री और पुरुष को चाहिये कि जैसे पुत्तिका अर्थात् दीमक वल्मीक अर्थात् बांमी को बनाती सब भूतों को पीड़ा न देकर परलोक अर्थात् परजन्म के सुखार्थ धीरे २ धर्म का संचय करें ॥ १ ॥ परलोक में न माता न पिता न पुत्र न स्त्री न ज्ञाति सहाय कर सकते हैं किन्तु एक धर्म ही क होता है ॥ २ ॥ देखिये अकेला ही जीव जन्म और मरण को प्राप्त होता, एक ही धर्म का फल ख और अधर्म का जो दुःखरूप फल उसको भोगता है ॥ ३ ॥ यह भी समझ लो कि कुटुम्ब में रुष पाप करके पदार्थ लाता है और महाजन अर्थात् सब कुटुम्ब उसको भोगता है भोगनेवाले गी नहीं होते किन्तु अधर्म का कर्त्ता ही दोष का भागी होता है ॥ ४ ॥ जब कोई किसी का धी मर जाता है उसको मट्टी के ढेले के समान भूमि में छोड़कर पीठ दे बन्धुवर्ग विमुख होकर ाते हैं कोई उसके साथ जानेवाला नहीं होता किन्तु एक धर्म ही उसका सङ्गी होता है ॥ ५ ॥

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः । धर्म्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ १ ॥
धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम् । परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम् ॥ २ ॥
मनु० [४ । २४२ । २४३]

उस हेतु से परलोक अर्थात् परजन्म में सुख और जन्म के सहायार्थ नित्य धर्म का सञ्चय २ करता जाय क्योंकि धर्म ही के सहाय से बड़े २ दुस्तर दुःखसागर को जीव तर सकता है ॥ १ ॥ जो पुरुष धर्म ही को प्रधान समझता जिसका धर्म के अनुष्ठान से कर्त्तव्य पाप दूर हो गया उसको ाशस्वरूप और आकाश जिसका शरीरवत् है उस परलोक अर्थात् परमदर्शनीय परमात्मा को धर्म ीघ्र प्राप्त कराता है ॥ २ ॥ इसलिये:—

दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन् । अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः ॥ १ ॥
वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः । तान्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥२॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः । आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ ३ ॥
मनु० [४ । २४६ । १५६]

सदा दृढकारी, कोमल स्वभाव, जितेन्द्रिय, हिंसक, क्रूर दुष्टाचारी पुरुषों से पृथक् ... त्मा मन को जीत और विद्यादि दान से सुख को प्राप्त होवे ॥ १ ॥ परन्तु यह भी ध्यान में

कि जिस वाणी में सब अर्थ अर्थात् व्यवहार निश्चित होते हैं वह वाणी ही उनका मूल और वाणी ही से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं उस वाणी को जो चोरता अर्थात् मिथ्याभाषण करता है वह सब चोरी आदि पापों का करनेवाला है ॥ २ ॥ इसलिये मिथ्याभाषणादिरूप अधर्म को छोड़ जो धर्माचार अर्थात् ब्रह्मचर्य जितेन्द्रियता से पूर्ण आयु और धर्माचार से उत्तम प्रजा तथा अक्षय धन को प्राप्त होता है तथा जो धर्माचार में वर्त्तकर दुष्ट लक्षणों का नाश करता है उसके आचरण को सदा किया करे ॥ क्योंकिः—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः । दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥

मनु० [४ । १५७]

जो दुष्टाचारी पुरुष है वह संसार में सज्जनों के मध्य में निन्दा को प्राप्त दुःखभागी निरन्तर व्याधियुक्त होकर अल्पायु का भी भोगनेहारा होता है । इसलिये ऐसा प्रयत्न करेः—

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् । यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥ १ ॥

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् । एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ २ ॥

मनु० [४ । १५९ । १६०]

जो २ पराधीन कर्म हो उस २ का प्रयत्न से त्याग और जो २ स्वाधीन कर्म हो उस २ का प्रयत्न के साथ सेवन करे ॥ १ ॥ क्योंकि जो २ पराधीनता है वह २ सब दुःख और जो २ स्वाधीनता है वह २ सब सुख यही संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जानना चाहिये ॥ २ ॥ परन्तु जो एक दूसरे के आधीन काम है वह २ आधीनता से ही करना चाहिये जैसा कि स्त्री और पुरुष एक दूसरे के आधीन व्यवहार । अर्थात् स्त्री पुरुष का और पुरुष स्त्री का परस्पर प्रियाचरण अनुकूल रहना व्यभिचार वा विरोध कभी न करना पुरुष की आज्ञानुकूल घर के काम स्त्री और वाहर के काम पुरुष के आधीन रहना दुष्ट व्यसन में फँसने से एक दूसरे को रोकना अर्थात् यही निश्चय जानना । जब विवाह होवे तब स्त्री के साथ पुरुष और पुरुष के साथ स्त्री विक चुकी अर्थात् जो स्त्री और पुरुष के साथ हाव; भाव, नखशिखाग्रपर्यन्त जो कुछ हैं वह वीर्यादि एक दूसरे के आधीन होजाता है । स्त्री वा पुरुष प्रसन्नता के विना कोई भी व्यवहार न करें । इन में बड़े अप्रियकारक व्यभिचार, वेश्या, परपु काम हैं । इनको छोड़ के अपने पति के साथ स्त्री और स्त्री के साथ पति सदा प्रसन्न रहें । जो गृहाश्रमवर्णस्थ हों तो पुरुष लड़कों को पढ़ावे तथा सुशिक्षिता स्त्री लड़कियों को पढ़ावे नानाविध और वक्तृत्व करके उनको विद्वान् करें । स्त्री का पूजनीय देव पति और पुरुष की पूजनीय अ सत्कार करने योग्य देवी स्त्री है । जबतक गुरुकुल में रहें तबतक माता पिता के समान को समझें और अध्यापक अपने सन्तानों के समान शिष्यों को समझें । पढ़ानेहारे अध्यापक अध्यापिका कैसे होने चाहियें—

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता । यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ १ ॥

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते । अनास्तिकः श्रद्धान एतत्पण्डितलक्षणम् ॥ २ ॥

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति, विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।

नासम्पृष्टो ह्युपयुङ्क्ते परार्थे, तत्प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥ ३ ॥

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् । आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥ ४ ॥

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् । आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥ ५ ॥
श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा । असंभिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ॥ ६ ॥
ये सब महाभारत उद्योगपर्व विदुरप्रजागर [अध्याय ३२] के श्लोक हैं ।

अर्थ—जिसको आत्मज्ञान सम्यक् आरम्भ अर्थात् जो निकम्मा आलसी कभी न रहे, सुख, दुःख, हानि, लाभ, मानापमान, निन्दा, स्तुति में हर्ष शोक कभी न करे, धर्म ही में नित्य निश्चित रहै, जिसके मन को उत्तम २ पदार्थ अर्थात् विषय सम्बन्धी वस्तु आकर्षण न कर सकें वही पण्डित कहाता है ॥ १ ॥ सदा धर्मयुक्त कर्मों का सेवन, अधर्मयुक्त कामों का त्याग, ईश्वर, वेद, सत्याचार की निन्दा न करनेहारा, ईश्वर आदि में अत्यन्त श्रद्धालु हो यही पण्डित का कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्म है ॥ २ ॥ जो कठिन विषय को भी शीघ्र जान सके, बहुत कालपर्य्यन्त शास्त्रों को पढ़े, सुने और विचारे, जो कुछ जाने उसको परोपकार में प्रयुक्त करे, अपने स्वार्थ के लिये कोई काम न करे, विना पूछे वा विना योग्य समय जाने दूसरे के अर्थ में सम्मति न दे वही प्रथम प्रज्ञान पण्डित होना चाहिये ॥ ३ ॥ जो प्राप्ति के अयोग्य की इच्छा कभी न करे नष्ट हुए पदार्थ पर शोक न करे, आपत्काल में मोह को न प्राप्त अर्थात् व्याकुल न हो वही बुद्धिमान् पण्डित है ॥ ४ ॥ जिसकी वाणी सब विद्याओं और प्रश्नोत्तरों के करने में अतिनिपुण, विचित्र, शास्त्रों के प्रकरणों का वक्ता, यथायोग्य तर्क और स्मृतिमान् ग्रन्थों के यथार्थ अर्थ का शीघ्र वक्ता हो वही पण्डित कहाता है ॥ ५ ॥ जिसकी प्रज्ञा सुने हुए सत्य अर्थ के अनुकूल और जिसका श्रवण बुद्धि के अनुसार हो जो कभी आर्य अर्थात् श्रेष्ठ धार्मिक पुरुषों की मर्यादा का छेदन न करे वही पण्डित संज्ञा को प्राप्त होवे ॥ ६ ॥ जहां ऐसे ऐसे स्त्री पुरुष पढ़ानेवाले होते हैं वहां विद्या धर्म और उत्तमाचार की वृद्धि होकर प्रतिदिन आनन्द ही बढ़ता रहता है । पढ़ने में अयोग्य और मूर्ख के लक्षण:—

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः । अर्थांश्चाऽकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥ १ ॥
अनाहूतः प्रविशति ह्यपृष्टो बहु भाषते । अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥ २ ॥
ये श्लोक भी महाभारत उद्योगपर्व विदुरप्रजागर [अध्याय ३२] के हैं ।

अर्थ—जिसने कोई शास्त्र न पढ़ा न सुना और अतीव घमण्डी दरिद्र होकर बड़े २ मनोरथ करनेहारा विना कर्म से पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा करनेवाला हो उसी को बुद्धिमान् लोग मूढ़ कहते हैं ॥ १ ॥ जो विना बुलाये सभा व किसी के घर में प्रविष्ट हो । उच्च आसन पर बैठना चाहे, विना पूछे सभा में बहुतसा बके, विश्वास के अयोग्य वस्तु वा मनुष्य में विश्वास करे वही मूढ़ और सब मनुष्यों में नीच मनुष्य कहाता है ॥ २ ॥ जहां ऐसे पुरुष अध्यापक, उपदेशक, गुरु और माननीय होते हैं वहां अविद्या, अधर्म, असभ्यता, कलह, विरोध और फूट बढ़ के दुःख ही बढ़ जाता है । अब विद्यार्थियों के लक्षण:—

आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च । स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च ।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ॥ १ ॥

सुखार्थिनः कुतो विद्या कुतो विद्यार्थिनः सुखम् । सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम् ॥ २
ये भी विदुरप्रजागर [अध्याय ३९] के श्लोक हैं ।

अर्थ—(आलस्य) अर्थात् शरीर और बुद्धि में जड़ता, नशा, मोह किसी वस्तु में फँसावट, चपलता और इधर उधर की व्यर्थ कथा करना सुनना, पढ़ते पढ़ाते रुक जाना, अभिमानी, अत्यागी होना ये सात दोष विद्यार्थियों में होते हैं ॥ १ ॥ जो ऐसे हैं उनको विद्या कभी नहीं आती ॥ सुख भोगने की इच्छा करने वाले को विद्या कहां ? और विद्या पढ़नेवाले को सुख कहां ? क्योंकि विषयसुखार्थी विद्या को और विद्यार्थी विषयसुख को छोड़ दे ॥ २ ॥ ऐसे किये विना विद्या कभी नहीं हो सकती और ऐसे को विद्या होती है:—

सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम् । ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन् सर्वपापान्युपासितम् ॥

जो सदा सत्याचार में प्रवृत्त, जितेन्द्रिय और जिनका वीर्य अधःस्खलित कभी न हो उन्हीं का ब्रह्मचर्य सच्चा और वे ही विद्वान् होते हैं ॥ १ ॥ इसलिये शुभ लक्षणयुक्त अध्यापक और विद्यार्थियों को होना चाहिये । अध्यापक लोग ऐसा यत्न किया करें जिससे विद्यार्थी लोग सत्यवादी, सत्यमानी, सत्यकारी, सभ्यता, जितेन्द्रियता, सुशीलतादि शुभगुणयुक्त शरीर और आत्मा का पूर्ण बल बढ़ा के समग्र वेदादि शास्त्रों में विद्वान् हों सदा उनकी कुचेष्टा छुड़ाने में और विद्या पढ़ाने में चेष्टा किया करें । और विद्यार्थी लोग सदा जितेन्द्रिय, शान्त, पढ़नेहारों में प्रेम, विचारशील परिश्रमी होकर ऐसा पुरुषार्थ करें जिससे पूर्ण विद्या, पूर्ण आयु, परिपूर्ण धर्म और पुरुषार्थ करना आजाय इत्यादि ब्राह्मण वर्णों के काम हैं । क्षत्रियों का कर्म्म राजधर्म में कहेंगे । [वैश्यों के कर्म ब्रह्मचर्यादि से वेदादि विद्या] पढ़ [विवाह करके] देशों की भाषा, नाना प्रकार के व्यापार की रीति, उनके भाव जानना, वेचना, खरीदना, द्वीपद्वीपान्तर में जाना आना, लाभार्थ काम का आरम्भ करना, पशुपालन और खेती की उन्नति चतुराई से करनी करानी धन का वढ़ाना, विद्या और धर्म की उन्नति मे व्यय करना, सत्यवादी निष्कपटी होकर सत्यता से सब व्यवहार करना, सब वस्तुओं की रक्षा ऐसी करनी जिससे कोई नष्ट न होने पावे । शूद्र सब सेवाओं में चतुर, पाकविद्या मे निपुण, अतिप्रेम से द्विजों की सेवा और उन्हीं से अपनी उपजीविका करे और द्विज लोग इसके खान, पान, वस्त्र, स्थान, विवाहादि में जो कुछ व्यय हो सब कुछ देवें । अथवा मासिक कर देवें । चारों वर्णों को परस्पर प्रीति, उपकार, सज्जनता, सुख, दुःख, हानि, लाभ में ऐकमत्य रहकर राज्य और प्रजा की उन्नति में तन, मन, धन का व्यय करते रहना । स्त्री और पुरुष का वियोग कभी न होना चाहिये क्योंकि—

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् । स्वप्नोन्यगेहवासश्च नारीसन्दूषणानि षट् ॥

मनु० [९ । १३]

मद्य भांग आदि मादक द्रव्यों का पीना, दुष्ट पुरुषों का सङ्ग, पतिवियोग, अकेली जहां तहां व्यर्थ पाखंडी आदि के दर्शन के मिस से फिरती रहना और पराये घर में जाके शयन करना वा वास । ये छः स्त्री को दूषित करने वाले दुर्गुण हैं । और ये पुरुषों के भी हैं पति और स्त्री का वियोग दो प्रकार का होता है कहीं कार्यार्थ देशान्तर मे जाना और दूसरा मृत्यु से वियोग होना इनमें से प्रथम का उपाय यही है कि दूर देश में यात्रार्थ जावे तो स्त्री को भी साथ रक्खे इसका प्रयोजन यह है कि बहुत समय तक वियोग न रहना चाहिये (प्रश्न) स्त्री और पुरुष का बहु विवाह होने योग्य है वा नहीं? (उत्तर) युगपत् न अर्थात् एक समय में नहीं (प्रश्न) क्या समयान्तर मे अनेक विवाह होने चाहियें (उत्तर) हां जैसे:—

सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागतापि वा । पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥

मनु० [९ । १७६]

जिस स्त्री वा पुरुष का पाणिग्रहणमात्र संस्कार हुआ हो और संयोग न हुआ हो अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य पुरुष हो उनका अन्य स्त्री वा पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिये किन्तु ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में क्षतयोनि स्त्री क्षतवीर्य पुरुष का पुनर्विवाह न होना चाहिये। (प्रश्न) पुनर्विवाह मे क्या दोष है? (उत्तर) (पहिला) स्त्री पुरुष में प्रेम न्यून होना क्योंकि जब चाहे तब पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष छोड़ कर दूसरे के साथ सम्बन्ध कर ले (दूसरा) जब स्त्री वा पुरुष पति व स्त्री के मरने के पश्चात् दूसरा विवाह करना चाहे तब प्रथम स्त्री वा पूर्व पति के पदार्थों को उड़ा लेजाना और उनके कुटुम्ब वालों का उनसे झगड़ा करना (तीसरा) बहुत से भद्रकुल का नाम वा चिह्न भी न रह कर उसके पदार्थ छिन्न भिन्न होजाना (चौथा) पतिव्रत और स्त्रीव्रत धर्म नष्ट होना इत्यादि दोषों के अर्थ द्विजो में पुनर्विवाह वा अनेक विवाह कभी न होना चाहिये। (प्रश्न) जब वंशच्छेदन हो जाय तब भी उसका कुल नष्ट होजायगा और स्त्री पुरुष व्यभिचारादि कर्म करके गर्भपातनादि बहुत दुष्ट कर्म करेंगे इसलिये पुनर्विवाह होना अच्छा है (उत्तर) नहीं २ क्योंकि जो स्त्री पुरुष ब्रह्मचर्य मे स्थित रहना चाहें तो कोई भी उपद्रव न होगा और जो कुल की परम्परा रखने के लिये किसी अपने स्वजाति का लड़का गोद ले लेंगे उससे कुल चलेगा और व्यभिचार भी न होगा और जो ब्रह्मचर्य न रख सकें तो नियोग कर के सन्तानोत्पत्ति करले (प्रश्न) पुनर्विवाह और नियोग में क्या भेद है? (उत्तर) (पहिला) जैसे विवाह करने में कन्या अपने पिता का घर छोड़ पति के घर को प्राप्त होती है और पिता से विशेष सम्बन्ध नहीं रहता और विधवा स्त्री उसी विवाहित पति के घर में रहती है। (दूसरा) उसी विवाहिता स्त्री के लड़के उसी विवाहित पति के दायभागी होते हैं। और विधवा स्त्री के लड़के वीर्यदाता के न पुत्र कहलाते न उसका गोत्र होता न उसका स्वत्व उन लड़कों पर रहता किन्तु वे मृतपति के पुत्र बजते, उसी का गोत्र रहता और उसी के पदार्थों के दायभागी होकर उसी घर में रहते हैं। (तीसरा) विवाहित स्त्री पुरुष को परस्पर सेवा और पालन करना अवश्य है और नियुक्त स्त्री पुरुष का कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। (चौथा) विवाहित स्त्री पुरुष का सम्बन्ध मरणपर्यन्त रहता और नियुक्त स्त्री पुरुष का कार्य के पश्चात् छूट जाता है। (पांचवां) विवाहित स्त्री पुरुष आपस मे गृह के कार्यों की सिद्धि करने में यत्न किया करते और नियुक्त स्त्री पुरुष अपने २ घर के काम किया करते हैं (प्रश्न) विवाह और नियोग के नियम एकसे हैं वा पृथक् २? (उत्तर) कुछ थोड़ासा भेद है जितने पूर्व कह आये और यह कि विवाहित स्त्री पुरुष एक पति और एक ही स्त्री मिल के दश सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं और नियुक्त स्त्री पुरुष दो वा चार से अधिक सन्तानोत्पत्ति नहीं कर सकते अर्थात् जैसा कुमार कुमारी ही का विवाह होता है वैसे जिसकी स्त्री वा पुरुष मर जाता है उन्ही का नियोग होता है कुमार कुमारी का नहीं। जैसे विवाहित स्त्री पुरुष सदा सङ्ग मे रहते हैं वैसे नियुक्त स्त्री पुरुष का व्यवहार नहीं किन्तु विना ऋतुदान के समय एकत्र न हों जो स्त्री अपने लिये नियोग करे तो जब दूसरा गर्भ रहे उसी दिन से स्त्री पुरुष का सम्बन्ध छूट जाय। और जो पुरुष अपने लिये करे तो भी दूसरे गर्भ रहने से सम्बन्ध छूट जाय। परन्तु वही नियुक्त स्त्री दो तीन वर्ष पर्य्यन्त उन लड़कों का पालन करके नियुक्त पुरुष को दे देवे। ऐसे एक विधवा स्त्री दो अपने लिये और दो २ अन्य चार नियुक्त पुरुषों के लिये सन्तान कर सकती और एक मृतस्त्रीक पुरुष भी दो अपने लिये और दो २ अन्य २ चार विधवाओं के लिये पुत्र उत्पन्न कर सकता ऐसे मिलकर दश २ सन्तानोत्पत्ति की आज्ञा वेद मे है॥

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि

ऋ०॥ मं० १०। सू० ८५। मं० ४५॥

हे (मीढ्व, इन्द्र) वीर्य सिंचने में समर्थ ऐश्वर्ययुक्त पुरुष तू इस विवाहित स्त्री वा विधवा स्त्रियों को श्रेष्ठपुत्र और सौभाग्ययुक्त कर विवाहित स्त्री में दश पुत्र उत्पन्न कर और ग्यारहवीं स्त्री को मान। हे स्त्री ! तू भी विवाहित पुरुष वा नियुक्त पुरुषों से दश सन्तान उत्पन्न कर और ग्यारहवें पति को समझ। इस वेद की आज्ञा से ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यवर्णस्थ स्त्री और पुरुष दश दश सन्तान से अधिक उत्पन्न न करें। क्योंकि अधिक करने से सन्तान निर्बल, निर्बुद्धि, अल्पायु होते हैं और स्त्री तथा पुरुष भी निर्बल, अल्पायु और रोगी होकर वृद्धावस्था में बहुतसे दुःख पाते हैं। (प्रश्न) यह नियोग की बात व्यभिचार के समान दीखती है- (उत्तर) जैसे बिना विवाहितों का व्यभिचार होता है वैसे बिना नियुक्तों का व्यभिचार कहाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसा नियम से विवाह होने पर व्यभिचार नही कहाता तो नियमपूर्वक नियोग होने से व्यभिचार न कहावेगा। जैसे दूसरे की कन्या का दूसरे के कुमार के साथ शास्त्रोक्त विधिपूर्वक विवाह होने पर समागम में व्यभिचार वा पाप लज्जा नही होती वैसे ही वेदशास्त्रोक्त नियोग में व्यभिचार पाप लज्जा न मानना चाहिये। (प्रश्न) है तो ठीक, परन्तु यह वेश्या के सदृश कर्म दीखता है (उत्तर) नहीं, क्योंकि वेश्या के समागम में किसी निश्चित पुरुष वा कोई नियम नही है और नियोग मे विवाह के समान नियम हैं। जैसे दूसरे को लड़की देने दूसरे के साथ समागम करने में विवाहपूर्वक लज्जा नही होती वैसे ही नियोग में भी न होनी चाहिये। क्या जो व्यभिचारी पुरुष वा स्त्री होते हैं वे विवाह होने पर भी कुकर्म से बचते हैं ? (प्रश्न) हम को नियोग की बात में पाप मालूम पड़ता है (उत्तर) जो नियोग की बात मे पाप मानते हो तो विवाह में पाप क्यों नहीं मानते ? पाप तो नियोग के रोकने में है क्योंकि ईश्वर के सृष्टिक्रमानुकूल स्त्री पुरुष का स्वाभाविक व्यवहार रुक ही नही सकता, सिवाय वैराग्यवान् पूर्णविद्वान् योगियों के ? क्या गर्भपातनरूप भ्रूणहत्या और विधवा स्त्री और मृतकस्त्री पुरुषों के महासन्ताप को पाप नही गिनते हो क्योंकि जबतक वे युवावस्था में हैं मन में सन्तानोत्पत्ति और विषय की चाहना होनेवालों को किसी राज्यव्यवहार वा जातिव्यवहार से रुकावट होने से गुप्त २ कुकर्म बुरी चाल से होते रहते हैं इस व्यभिचार और कुकर्म के रोकने का एक यही श्रेष्ठ उपाय है कि जो जितेन्द्रिय रह सकें वे विवाह वा नियोग भी न करें तो ठीक है। परन्तु जो ऐसे नही हैं उनका विवाह और आपत्काल मे नियोग अवश्य होना चाहिये। इससे व्यभिचार का न्यून होना प्रेम से उत्तम सन्तान होकर मनुष्यों की वृद्धि होना सम्भव है और गर्भहत्या सर्वथा छूट जाती है। नीच पुरुषों से उत्तम स्त्री और वेश्यादि नीच स्त्रियों से उत्तम पुरुषों का व्यभिचाररूप कुकर्म, उत्तम कुल में कलंक, वंश का उच्छेद, स्त्री पुरुषों को सन्ताप और गर्भहत्यादि कुकर्म विवाह और नियोग से निवृत्त होते हैं इसलिये नियोग करना चाहिये (प्रश्न) नियोग में क्या २ बात होनी चाहिये ? (उत्तर) जैसे प्रसिद्धि से विवाह, वैसे ही प्रसिद्धि से नियोग, जिस प्रकार विवाह में भद्र पुरुषों की अनुमति और कन्या वर की प्रसन्नता होती है वैसे नियोग में भी अर्थात् जब स्त्री पुरुष का नियोग होना हो तब अपने कुटुम्ब में पुरुष स्त्रियों के सामने [प्रकट करें कि] हम दोनों नियोग सन्तानोत्पत्ति के लिये करते हैं। जब नियोग का नियम पूरा होगा तब हम संयोग न करेंगे। जो अन्यथा करें तो पापी और जाति वा राज्य के दण्डनीय हों। महीने २ में एकवार गर्भाधान का काम करेंगे, गर्भ रहे पश्चात् एक वर्ष पर्य्यन्त पृथक् रहेंगे। (प्रश्न) नियोग अपने वर्ण में होना चाहिये वा अन्य वर्णों के साथ भी ? (उत्तर) अपने वर्ण में वा अपने से उत्तम वर्णस्थ पुरुष के साथ अर्थात् वैश्या स्त्री वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण के साथ, क्षत्रिया क्षत्रिय और ब्राह्मण के साथ, ब्राह्मणी ब्राह्मण के साथ नियोग कर सकती है। इसका तात्पर्य्य यह है कि वीर्य सम वा उत्तम वर्ण का चाहिये अपने से नीचे के वर्ण का नहीं। स्त्री और पुरुष की सृष्टि का यही

प्रयोजन है कि धर्म से अर्थात् वेदोक्त रीति से विवाह वा नियोग से सन्तानोत्पत्ति करना (प्रश्न) पुरुष को नियोग करने की क्या आवश्यकता है क्योंकि वह दूसरा विवाह करेगा ? (उत्तर) हम लिख आये हैं द्विजों मे स्त्री और पुरुष का एक ही वार विवाह होना वेदादि शास्त्रों में लिखा है, द्वितीयवार नहीं। कुमार और कुमारी का ही विवाह होने में न्याय और विधवा स्त्री के साथ कुमार पुरुष और कुमारी स्त्री के साथ मृतस्त्रीक पुरुष के विवाह होने में अन्याय अर्थात् अधर्म है। जैसे विधवा स्त्री के साथ पुरुष विवाह नहीं किया चाहता वैसे ही विवाह और स्त्री से समागम किये हुए पुरुष के साथ विवाह करने की इच्छा कुमारी भी न करेगी। जव विवाह किये हुए पुरुष को कोई कुमारी कन्या और विधवा स्त्री का ग्रहण कोई कुमार पुरुष न करेगा तव पुरुष और स्त्री को नियोग करने की आवश्यकता होगी। और यही धर्म है कि जैसे के साथ वैसे ही का सम्वन्ध होना चाहिये (प्रश्न) जैसे विवाह में वेदादि शास्त्रों का प्रमाण है वैसे नियोग में प्रमाण है वा नहीं, (उत्तर) इस विषय में वहुत प्रमाण हैं देखो और सुनो:—

कुहस्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः। को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ॥ ऋ० ॥ मं० १० । सू० ४० । मं० २ ॥

उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं वभूथ॥ ऋ० ॥ मं० १० । सू० १८ । मं० ८ ॥

हे (अश्विना) स्त्री पुरुषो ! जैसे (देवरं विधवेव) देवर को विधवा और (योषा मर्यन्न) विवाहिता स्त्री अपने पति को (सधस्थे) समान स्थान शय्या में एकत्र होकर सन्तानोत्पत्ति को (आ, कृणुते) सव प्रकार से उत्पन्न करती है वैसे तुम दोनो स्त्री पुरुष (कुहस्विद्दोषा) कहां रात्रि और (कुह वस्तः) कहां दिन मे वसे थे ? (कुहाभिपित्वम्) कहां पदार्थों की प्राप्ति (करतः) की ? और (कुहोषतुः) किस समय कहां वास करते थे ? (को वां शयुत्रा) तुम्हारा शयनस्थान कहां है ? तथा कौन वा किस देश के रहनेवाले हो ? इससे यह सिद्ध हुआ कि देश विदेश में स्त्री पुरुष सङ्ग ही में रहें। और विवाहित पति के समान नियुक्त पति को ग्रहण करके विधवा स्त्री भी सन्तानोत्पत्ति कर लेवे (प्रश्न) यदि किसी का छोटा भाई ही न हो तो विधवा नियोग किसके साथ करे ? (उत्तर) देवर के साथ परन्तु देवर शब्द का अर्थ जैसा तुम समझते हो वैसा नहीं देखो निरुक्त में—

देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते ॥ निरु० अ० ३ । खं० १५ ॥

देवर उसको कहते हैं कि जो विधवा का दूसरा पति होता है चाहे छोटा भाई वा वड़ा भाई अथवा अपने वर्ण वा अपने से उत्तम वर्ण वाला हो जिससे नियोग करे उसी का नाम देवर है ॥

हे (नारि) विधवे तू (एतं गतासुम्) इस मरे हुए पति की आशा छोड़ के (शेषे) वाकी पुरुषों में से (अभि, जीवलोकम्) जीते हुए दूसरे पति को (उपैहि) प्राप्त हो और (उदीर्ष्व) इस वात का विचार और निश्चय रख कि जो (हस्तग्राभस्य दिधिषोः) तुझ विधवा के पुनः पाणिग्रहण करनेवाले नियुक्त पति के सम्वन्ध के लिये नियोग होगा तो (इदम्) यह (जनित्वम्) जना हुआ वालक उसी नियुक्त (पत्युः) पति का होगा और जो तू अपने लिये नियोग करेगी तो यह सन्तान (तव) तेरा होगा। ऐसे निश्चययुक्त (अभि, सम्, वभूथ) हो और नियुक्त पुरुष भी इसी नियम का पालन करे ॥

अदे॑वृघ्न्यप॑तिघ्नी हैधि॑ शि॒वा प॒शुभ्य॑: सु॒यमा॑: सु॒वर्चा॑: । प्र॒जाव॑ती वीर॒सूर्दे॒वृका॑मा स्यो॒ मृ॒ग्निं गार्ह॑पत्यं सपर्य ॥ अथर्व० ॥ कां० १४ । अनु० २ । मं० १८ ॥

हे (अपतिघ्न्यदेवृघ्नि) पति और देवर को दुःख न देने वाली स्त्री तू (इह) इस गृहाश्र (पशुभ्यः) पशुओं के लिये (शिवा) कल्याण करनेहारी (सुयमाः) अच्छे प्रकार धर्म नियम में (सुवर्चाः) रूप और सर्व शास्त्र विद्यायुक्त (प्रजावती) उत्तम पुत्र पौत्रादि से सहित (वीरसूः) वीर पुत्रों को जनने (देवृकामा) देवर की कामना करने वाली (स्योना) और सुख देनेहारी प देवर को (एधि) प्राप्त होके (इमम्) इस (गार्हपत्यम्) गृहस्थसम्बन्धी (अग्निम्) अग्निहोत्र (सपर्य) सेवन किया कर ॥

तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ मनु० [९ । ६९]

जो अक्षतयोनि स्त्री विधवा हो जाय तो पति का निज छोटा भाई भी उससे विवाह कर कता है (प्रश्न) एक स्त्री वा पुरुष कितने नियोग कर सकते हैं और विवाहित नियुक्त पतियो नाम क्या होता है (उत्तर):—

सोम॑: प्रथ॒मो वि॑विदे गन्ध॒र्वो वि॑विद॒ उत्त॑रः । तृ॒तीयो॑ अ॒ग्निष्टे॒ पति॑स्तु॒रीय॑स्ते मनुष्य॒जाः ॥
ऋ० ॥ मं० १० । सू० ८५ । मं० ४० ॥

हे स्त्रि ! जो (ते) तेरा (प्रथमः) पहिला विवाहित (पतिः) पति तुझको (विविदे) होता है उसका नाम (सोमः) सुकुमारतादि गुणयुक्त होने से सोम जो दूसरा नियोग से (विविदे प्राप्त होता वह (गन्धर्वः) एक स्त्री से संभोग करने से गन्धर्व जो (तृतीय उत्तरः) दो के पश्चात् तीसरा पति होता है वह (अग्निः) अत्युष्णतायुक्त होने से अग्निसंज्ञक और जो (ते) तेरे (तुरीयः चौथे से लेके ग्यारहवें तक नियोग से पति होते हैं वे (मनुष्यजाः) मनुष्य नाम से कहाते हैं। जै (इमां त्वमिन्द्र) इस मन्त्र से ग्यारहवें पुरुष तक स्त्री नियोग कर सकती है वैसे पुरुष भी ११वीं स्त्री तक नियोग कर सकता है। (प्रश्न) एकादश शब्द से दश पुत्र और ग्यारहवें पति को क्यों गिनें ? (उत्तर) जो ऐसा अर्थ करोगे तो "विधवेव देवरम्" "देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते "अदेवृघ्नि" और "गन्धर्वो विविद उत्तरः" इत्यादि वेदप्रमाणों से विरुद्धार्थ होगा। क्योंकि अर्थ से दूसरा भी पति प्राप्त नहीं हो सकता।

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया । प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥१॥
ज्येष्ठो यवीयसो भार्य्यां यवीयान्वाग्रजास्त्रियम् । पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥२॥
औरसः क्षेत्रजश्चैव ॥ ३ ॥ मनु० [९ । ५९ । ५८ । १५९]

इत्यादि मनुजी ने लिखा है कि (सपिण्ड) अर्थात् पति की छः पीढ़ियों में पति का वा बड़ा भाई अथवा स्वजातीय तथा अपने से उत्तम जातिस्थ पुरुष से विधवा स्त्री का नियोग चाहिये। परन्तु जो वह मृतस्त्रीक पुरुष और विधवा स्त्री सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करती हो तो नियो होना उचित है। और जब सन्तान का सर्वथा क्षय हो तब नियोग होवे। जो आपत्काल अर्थात् के होने की इच्छा न होने में बड़े भाई की स्त्री से छोटे का और छोटे की स्त्री से बड़े भाई का होकर सन्तानोत्पत्ति होजाने पर भी पुनः वे नियुक्त आपस में समागम करें तो पतित होजाये एक नियोग में दूसरे पुत्र के गर्भ रहने तक नियोग की अवधि है इसके पश्चात् समागम न करें।

जो दोनों के लिये नियोग हुआ हो तो चौथे गर्भ तक अर्थात् पूर्वोक्त रीति से दश सन्तान तक हो सकते हैं। पश्चात् विषयासक्ति गिनी जाती है, इससे वे पतित गिने जाते हैं। और जो विवाहित स्त्री पुरुष भी दशवें गर्भ से अधिक समागम करें तो कामी और निन्दित होते हैं अर्थात् विवाह वा नियोग सन्तानों ही के अर्थ किये जाते हैं पशुवत् कामक्रीड़ा के लिये नहीं (प्रश्न) नियोग मरे पीछे ही होता है वा जीते पति के भी ? (उत्तर) जीते भी होता है—

अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥ ऋ० ॥ मं० १० । सू० १० ॥

जब पति सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवे कि हे सुभगे ! सौभाग्य की इच्छा करनेहारी स्त्री तू (मत्) मुझ से (अन्यम्) दूसरे पति की (इच्छस्व) इच्छा कर क्योंकि अब मुझ से सन्तानोत्पत्ति न हो सकेगी। तब स्त्री दूसरे से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करे। परन्तु उस विवाहित महाशय पति की सेवा में तत्पर रहे वैसे ही स्त्री भी जब रोगादि दोषों से ग्रस्त होकर सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ हो तब अपने पति को आज्ञा देवे कि हे स्वामी आप सन्तानोत्पत्ति की इच्छा मुझसे छोड़ के किसी दूसरी विधवा स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कीजिये। जैसा कि पाण्डु राजा की स्त्री कुन्ती और माद्री आदि ने किया और जैसा व्यासजी ने चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य के मरजाने पश्चात् उन अपने भाइयों की स्त्रियों से नियोग करके अम्बिका में धृतराष्ट्र और अम्बालिका में पाण्डु और दासी में विदुर की उत्पत्ति की इत्यादि इतिहास भी इस बात में प्रमाण हैं ॥

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः। विद्यार्थं षड् यशोर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥१॥
वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा। एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥ २ ॥

मनु० [९ । ७६ । ८१]

विवाहित स्त्री जो विवाहित पति धर्म के अर्थ परदेश गया हो तो आठ वर्ष, विद्या और कीर्त्ति के लिये गया हो तो छः और धनादि कामना के लिये गया हो तो तीन वर्ष तक बाट देख के पश्चात् नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करले, जब विवाहित पति आवे तब नियुक्त पति छूट जावे ॥ १ ॥ वैसे ही पुरुष के लिये भी नियम है कि वन्ध्या हो तो आठवें (विवाह से आठ वर्ष तक स्त्री को गर्भ न रहे), सन्तान होकर मरजावे तो दशवें, जब २ हो तब २ कन्या ही होवें पुत्र न हों तो ग्यारहवें वर्ष तक और जो अप्रिय बोलने वाली हो तो सद्यः उस स्त्री को छोड़ के दूसरी स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लेवे ॥ २ ॥ वैसे ही जो पुरुष अत्यन्त दुःखदायक हो तो स्त्री को उचित है कि उसको छोड़ के दूसरे पुरुष से नियोग कर सन्तानोत्पत्ति करके उसी विवाहित पति के दायभागी सन्तान कर लेवे। इत्यादि प्रमाण और युक्तियों से स्वयंवर विवाह और नियोग से अपने २ कुल की उन्नति करे जैसा "औरस" अर्थात् विवाहित पति से उत्पन्न हुआ पुत्र पिता के पदार्थों का स्वामी होता है वैसे ही "क्षेत्रज" अर्थात् नियोग से उत्पन्न हुए पुत्र भी मृतपिता के दायभागी होते हैं। अब इस पर स्त्री और पुरुष को ध्यान रखना चाहिये कि वीर्य और रज को अमूल्य समझें। जो कोई इस अमूल्य पदार्थ को परस्त्री, वेश्या वा दुष्ट पुरुषों के सङ्ग में खोते हैं वे महामूर्ख होते हैं। क्योंकि किसान वा माली मूर्ख होकर भी अपने खेत वा वाटिका के विना अन्यत्र बीज नहीं बोते। जोकि साधारण बीज और मूर्ख का ऐसा वर्त्तमान है तो जो सर्वोत्तम मनुष्यशरीररूप वृक्ष के बीज को कुक्षेत्र में खोता है वह महामूर्ख कहाता है क्योंकि उसका फल उसको नहीं मिलता और "आत्मा वै जायते पुत्रः" यह ब्राह्मण ग्रन्थों का वचन है ॥

अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे । आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥
निरु० ३ । ४ ॥

हे पुत्र तू अङ्ग २ से उत्पन्न हुए वीर्य से और हृदय से उत्पन्न होता है इसलिये तू मेरा आत्मा है मुझ से पूर्व मत मरे किन्तु सौ वर्ष तक जी । जिससे ऐसे २ महात्मा और महाशयों के शरीर उत्पन्न होते हैं उसको वेश्यादि दुष्टक्षेत्र में बोना वा दुष्टबीज अच्छे क्षेत्र में बुवाना महापाप का काम है। (प्रश्न) विवाह क्यों करना ? क्योंकि इससे स्त्री पुरुष को बन्धन में पड़के बहुत संकोच करना और दुःख भोगना पड़ता है इसलिये जिसके साथ जिसकी प्रीति हो तबतक वे मिले रहें जब प्रीति छूट जाय तो छोड़ देवें (उत्तर) यह पशु पक्षियों का व्यवहार है मनुष्यों का नहीं । जो मनुष्यों में विवाह का नियम न रहे तो सब गृहाश्रम के अच्छे २ व्यवहार सब नष्ट भ्रष्ट होजायं । कोई किसी की सेवा भी न करे और महा व्यभिचार बढ़कर सब रोगी निर्बल और अल्पायु होकर शीघ्र २ मरजायें । कोई किसी से भय वा लज्जा न करे । वृद्धावस्था मे कोई किसी की सेवा भी नहीं करे और महाव्यभिचार बढ़कर सब रोगी निर्बल और अल्पायु होकर कुलों के कुल नष्ट होजायें । कोई किसी के पदार्थों का स्वामी वा दायभागी भी न हो सके और न किसी का किसी पदार्थ पर दीर्घकालपर्यन्त स्वत्व रहे इत्यादि दोषों के निवारणार्थ विवाह ही होना सर्वथा योग्य है । (प्रश्न) जब एक विवाह होगा एक पुरुष को एक स्त्री और एक स्त्री को एक पुरुष रहेगा तब स्त्री गर्भवती स्थिररोगिणी अथवा पुरुष दीर्घरोगी हो और दोनों की युवावस्था हो, रहा न जाय, तो फिर क्या करें ? (उत्तर) इसका प्रत्युत्तर नियोग विषय में दे चुके हैं । और गर्भवती स्त्री से एक वर्ष समागम न करने के समय में पुरुष से वा दीर्घ रोगी पुरुष की स्त्री से न रहा जाय तो किसी से नियोग करके उसके लिये पुत्रोत्पत्ति करदे, परन्तु वेश्यागमन वा व्यभिचार कभी न करें । जहांतक हो वहांतक अप्राप्त वस्तु की इच्छा, प्राप्त का रक्षण और रक्षित की वृद्धि, बढ़े हुए धन का व्यय देशोपकार करने मे किया करें । सब प्रकार के अर्थात् पूर्वोक्त रीति से अपने २ वर्णाश्रम के व्यवहारों को अत्युत्साहपूर्वक प्रयत्न से तन, मन, धन से सर्वदा परमार्थ किया करें । अपने माता, पिता, शाशु, श्वशुर की अत्यन्त शुश्रूषा करें । मित्र और अड़ोसी पड़ोसी, राजा, विद्वान्, वैद्य और सत्पुरुषों से प्रीति रख के और जो दुष्ट अधर्मी हैं उनसे उपेक्षा अर्थात् द्रोह छोड़कर उनके सुधारने का यत्न किया करे । जहांतक बने वहांतक प्रेम से अपने सन्तानों के विद्वान् और सुशिक्षा करने कराने में धनादि पदार्थों का व्यय करके उनको पूर्ण विद्वान् सुशिक्षायुक्त करदें और धर्मयुक्त व्यवहार करके मोक्ष का भी साधन किया करें कि जिसकी प्राप्ति से परमानन्द भोगें और ऐसे ऐसे श्लोकों को न माने जैसे:—

पतितोपि द्विजः श्रेष्ठो न च शूद्रो जितेन्द्रियः । निर्दुग्धा चापि गौः पूज्या न च दुग्धवती खरी ॥ १ ॥
अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैत्रिकम् । देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत् ॥ २ ॥
नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ । पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥ ३ ॥

ये कपोलकल्पित पाराशरी के श्लोक हैं । जो दुष्ट कर्मचारी द्विज को श्रेष्ठ और श्रेष्ठ कर्मकारी शूद्र को नीच मानें तो इससे परे पक्षपात, अन्याय, अधर्म दूसरा अधिक क्या होगा ? क्या दूध देनेवाली वा न देनेवाली गाय गोपालों को पालनीय होती हैं वैसे कुम्हार आदि को गधही पालनीय नहीं होती ? और यह दृष्टान्त भी विषम है क्योंकि द्विज और शूद्र मनुष्य जाति, गाय और गधही भिन्न जाति हैं कथञ्चित् पशु जाति से दृष्टान्त का एकदेश दार्ष्टान्त में मिल भी जावे तो भी इसका आशय अयुक्त होने से यह श्लोक विद्वानों के माननीय कभी नहीं हो सकते ॥ १ ॥

जब अश्वालम्भ अर्थात् घोड़े को मार के अथवा [गवालम्भ] गाय को मार के होम करना ही वेदविहित नहीं है। तो उसका कलियुग में निषेध करना वेदविरुद्ध क्यों नहीं ? जो कलियुग में इस नीच कर्म का निषेध माना जाय तो त्रेता आदि में विधि आजाय। तो इसमें ऐसे दुष्ट काम का श्रेष्ठ युग में होना सर्वथा असंभव है। और संन्यास की वेदादि शास्त्रों में विधि है। उसका निषेध करना निर्मूल है। जब मांस का निषेध है तो सर्वदा ही निषेध है। जब देवर से पुत्रोत्पत्ति करना वेदों में लिखा है तो यह श्लोककर्त्ता क्यों भूंसता है ? ॥ २ ॥

यदि (नष्टे) अर्थात् पति किसी देश देशान्तर को चला गया हो घर में स्त्री नियोग कर लेवे उसी समय विवाहित पति आजाय तो वह किसकी स्त्री हो ? कोई कहे कि विवाहित पति की, हमने माना परन्तु ऐसी व्यवस्था पाराशरी मे तो नहीं लिखी। क्या स्त्री के पांच ही आपत्काल हैं जो रोगी पड़ा हो वा लड़ाई होगई हो इत्यादि आपत्काल पांच से भी अधिक हैं इसलिये ऐसे ऐसे श्लोको को कभी न मानना चाहिये ॥ ३ ॥ (प्रश्न) क्योंजी तुम पराशर मुनि के वचन को भी नहीं मानते ? (उत्तर) चाहे किसी का वचन हो परन्तु वेदविरुद्ध होने से नहीं मानते और यह तो पराशर का वचन भी नहीं है क्योंकि जैसे "ब्रह्मोवाच, वशिष्ठ उवाच, राम उवाच, शिव उवाच, विष्णुरुवाच, देव्युवाच" इत्यादि श्रेष्ठों का नाम लिख के ग्रन्थरचना इसलिये करते हैं कि सर्वमान्य के नाम से इन ग्रन्थों को सब संसार मान लेवे और हमारी पुष्कल जीविका भी हो। इसलिये अनर्थ गाथायुक्त ग्रन्थ बनाते हैं। कुछ २ प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़ के मनुस्मृति ही वेदानुकूल है अन्य स्मृति नहीं। ऐसे ही अन्य जालग्रन्थों की व्यवस्था समझलो (प्रश्न) गृहाश्रम सब से छोटा वा बड़ा है ? (उत्तर) अपने २ कर्त्तव्यकर्मों में सब बड़े हैं परन्तुः—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् । तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ १ ॥

[मनु० ६ । ९०]

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः । तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ २ ॥

यस्मात्त्रयोप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम् । गृहस्थेनैव धार्य्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ ३ ॥

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता । सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥ ४ ॥

[मनु० ३ । ७७-७९]

जैसे नदी और बड़े २ नद तबतक भ्रमते ही रहते हैं जबतक समुद्र को प्राप्त नहीं होते, वैसे गृहस्थ ही के आश्रय से सब आश्रम स्थिर रहते हैं विना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता। जिससे ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तीन आश्रमों को दान और अन्नादि दे के प्रतिदिन गृहस्थ ही धारण करता है इससे गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम है अर्थात् सब व्यवहारों में धुरन्धर कहाता है इसलिये जो मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता हो वह प्रयत्न से गृहाश्रम का धारण करे। जो गृहाश्रम दुर्बलेन्द्रिय अर्थात् भीरु और निर्बल पुरुषों से धारण करने अयोग्य है उसको अच्छे प्रकार धारण करे। इसलिये जितना कुछ व्यवहार संसार में है उसका आधार गृहाश्रम है। जो यह गृहाश्रम न होता तो सन्तानोत्पत्ति के न होने से ब्रह्मचर्य्य, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम कहां से हो सकते ? जो कोई गृहाश्रम की निन्दा करता है वही निन्दनीय है और जो प्रशंसा करता है वही प्रशंसनीय है। परन्तु तभी गृहाश्रम में सुख होता है जब स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर प्रसन्न

विद्वान्, पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारों के ज्ञाता हों। इसलिये गृहाश्रम के सुख का कारण ब्रह्मचर्य्य और पूर्वोक्त स्वयंवर विवाह है। यह संक्षेप से समावर्तन, विवाह और गृहाश्रम विषय में शिक्षा लिख दी। इसके आगे वानप्रस्थ और संन्यास के विषय में लिखा जायगा॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते समावर्त्तनविवाहगृहाश्रमविषये
चतुर्थः समुल्लासः सम्पूर्णः॥ ४॥



अथ पञ्चमसमुल्लासारम्भः

अथ वानप्रस्थसंन्यासविधिं वक्ष्यामः

ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ॥ शत० कां० १४ ॥

मनुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त करके गृहस्थ होकर वानप्रस्थ और वानप्रस्थ होके संन्यासी होवें अर्थात् यह अनुक्रम से आश्रम का विधान है ॥

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः । वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः । अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥
संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् । पुत्रेषु भार्यां निःक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥
अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् । ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥
मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा । एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥

मनु० [६ । १-५]

इस प्रकार स्नातक अर्थात् ब्रह्मचर्यपूर्वक गृहाश्रम का कर्त्ता द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य गृहाश्रम में ठहर कर निश्चितात्मा और यथावत् इन्द्रियों को जीत के वन में वसे ॥ १ ॥ परन्तु जब गृहस्थ शिर के श्वेत केश और त्वचा ढीली हो जाय और लड़के का लड़का भी हो गया हो तब वन में जाके वसे ॥ २ ॥ सब ग्राम के आहार और वस्त्रादि सब उत्तमोत्तम पदार्थों को छोड़ पुत्रों के पास स्त्री को रख वा अपने साथ ले के वन में निवास करे ॥ ३ ॥ साङ्गोपाङ्ग अग्निहोत्र को ले के ग्राम से निकल दृढेन्द्रिय होकर अरण्य में जाके वसे ॥ ४ ॥ नाना प्रकार के सामा आदि अन्न, सुन्दर २ शाक, मूल, फल, फूल कंदादि से पूर्वोक्त पंच महायज्ञों को करे और उसी से अतिथिसेवा और आप भी निर्वाह करे ॥ ५ ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः । दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥१॥
अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः । शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २ ॥

मनु० [६ । ८ । २६]

स्वाध्याय अर्थात् पढ़ने पढ़ाने में नि [त्य] युक्त, जितात्मा, सबका मित्र, इन्द्रियों का दमनशील, विद्यादि का दान देनेहारा और सब पर दयालु, किसी से कुछ भी पदार्थ न लेवे इस प्रकार सदा वर्तमान करे ॥ १ ॥ शरीर के सुख के लिये अति प्रयत्न न करे किन्तु ब्रह्मचारी [रहे] अर्थात् अपनी

स्त्री साथ हो तथापि उससे विषयचेष्टा कुछ न करे, भूमि में सोवे, अपने आश्रित वा स्वकीय पदार्थों में ममता न करे, वृक्ष के मूल में बसे ॥ २ ॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्य्यां चरन्तः । सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ १ ॥ मुण्ड० ॥ खं० २ । मं० ११ ॥

जो शान्त विद्वान् लोग वन में तप धर्म्मानुष्ठान और सत्य की श्रद्धा करके भिक्षाचरण करते हुए जंगल में वसते हैं वे जहां नाशरहित पूर्ण पुरुष हानि लाभरहित परमात्मा है, वहां निर्मल होकर प्राणद्वार से उस परमात्मा को प्राप्त होके आनन्दित हो जाते हैं ॥ १ ॥

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि । व्रतञ्च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम् ॥
यजुर्वेद ॥ अध्याय २० । मं० २४ ॥

वानप्रस्थ को उचित है कि—मैं अग्नि में होम कर दीक्षित होकर व्रत, सत्याचरण और श्रद्धा को प्राप्त होऊं-ऐसी इच्छा करके वानप्रस्थ हो । नाना प्रकार की तपश्चर्या, सत्संग, योगाभ्यास, सुविचार से ज्ञान और पवित्रता प्राप्त करें । पश्चात् जब संन्यासग्रहण की इच्छा हो तब स्त्री को पुत्रों के पास भेज देवे फिर संन्यास ग्रहण करे । इति संक्षेपेण वानप्रस्थविधिः ॥

अथ संन्यासविधिः

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः । चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत् ॥
मनु० [६ । ३३]

इस प्रकार वन में आयु का तीसरा भाग अर्थात् पचासवें वर्ष से पचहत्तरवें वर्ष पर्य्यन्त वानप्रस्थ होके आयु के चौथे भाग में संगों को छोड़ के परिव्राट् अर्थात् संन्यासी हो जावे (प्रश्न) गृहाश्रम और वानप्रस्थाश्रम न करके संन्यासाश्रम करे उसको पाप होता है वा नहीं ? (उत्तर) होता है और नहीं भी होता (प्रश्न) यह दो प्रकार की बात क्यों कहते हो ? (उत्तर) दो प्रकार की नहीं क्योंकि जो बाल्यावस्था में विरक्त होकर विषयों में फँसे वह महापापी और जो न फँसे वह महापुण्यात्मा सत्पुरुष है ॥

यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् ॥ ये ब्राह्मणग्रन्थ के वचन हैं।

जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो उसी दिन घर वा वन से संन्यास ग्रहण करलेवे पहिले संन्यास का पक्षक्रम कहा और इसमें विकल्प अर्थात् वानप्रस्थ न करे, गृहस्थाश्रम ही से संन्यास ग्रहण करे और तृतीय पक्ष यह है कि जो पूर्ण विद्वान् जितेन्द्रिय विषयभोग की कामना से रहित परोपकार करने की इच्छा से युक्त पुरुष हो ब्रह्मचर्याश्रम ही से संन्यास लेवे और वेदों मे भी (यतयः ब्राह्मणस्य विजानतः) इत्यादि पदों से संन्यास का विधान है, परन्तुः—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥
कठ० । वल्ली २ । मं० २३ ॥

जो दुराचार से पृथक् नहीं, जिसको शान्ति नहीं, जिसका आत्मा योगी नहीं और जिसका मन शान्त नहीं है वह संन्यास ले के भी प्रज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं होता इसलिये:—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेद् ज्ञान आत्मनि । ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥
कठ० । वल्ली ३ । मं० १३ ॥

संन्यासी बुद्धिमान् वाणी और मन को अधर्म से रोक के उनको ज्ञान और आत्मा में लगावे और उस ज्ञानस्वात्मा को परमात्मा में लगावे और उस विज्ञान को शान्तस्वरूप आत्मा में स्थिर करे ॥

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ मुण्ड० । खं० २ । मं० १२ ॥

सब लौकिक भोगों को कर्म से संचित हुए देखकर ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी वैराग्य को प्राप्त होवे क्योंकि अकृत अर्थात् न किया हुआ परमात्मा कृत अर्थात् केवल कर्म से प्राप्त नहीं होता इसलिये कुछ अर्पण के अर्थ हाथ में ले के वेदवित् और परमेश्वर को जाननेवाले गुरु के पास विज्ञान के लिये जावे, जाके सब सन्देहों की निवृत्ति करे परन्तु सदा इनका संग छोड़ देवे कि जोः—

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः । जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ १ ॥ अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः । यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ २ ॥
मुण्ड० । खं० २ । मं० ८ । ९ ॥

जो अविद्या के भीतर खेल रहे अपने को धीर और पंडित मानते हैं वे नीच गति को जानेहारे मूढ़ जैसे अंधे के पीछे अंधे दुर्दशा को प्राप्त होते हैं वैसे दुःखों को पाते हैं ॥ १ ॥ जो बहुधा अविद्या में रमण करनेवाले बालबुद्धि हम कृतार्थ हैं ऐसा मानते हैं जिसको केवल कर्मकांडी लोग राग से मोहित होकर नहीं जान और जना सकते वे आतुर होके जन्म मरणरूप दुःख में गिरे रहते हैं ॥ २ ॥ इसलियेः—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः । ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ मुण्ड० । खं० २ । मं० ६ ॥

जो वेदान्त अर्थात् परमेश्वर प्रतिपादक वेदमन्त्रों के अर्थज्ञान और आचार में अच्छे प्रकार निश्चित संन्यासयोग से शुद्धान्तःकरण संन्यासी होते हैं वे परमेश्वर में मुक्तिसुख को प्राप्त हो भोग के पश्चात् जब मुक्ति में सुख की अवधि पूरी हो जाती है तब वहां से छूटकर संसार में आते हैं मुक्ति के विना दुःख का नाश नहीं होता क्योंकिः—

न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥
छान्दो० । [प्र० ८ । खं० १२]

जो देहधारी है वह सुख दुःख की प्राप्ति से पृथक् कभी नहीं रह सकता और जो शरीररहित जीवात्मा मुक्ति में सर्वव्यापक परमेश्वर के साथ शुद्ध होकर रहता है तब उसको सांसारिक सुख दुःख प्राप्त नहीं होता इसलियेः—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति ॥
शत० कां० १४ । [प्र० ५ । ब्रा० २ । कं० १]

लोक में प्रतिष्ठा वा लाभ धन से भोग वा मान्य पुत्रादि के मोह से अलग हो के संन्यासी लोग भिक्षुक होकर रात दिन मोक्ष के साधनों में तत्पर रहते हैं ॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेत् ॥ १ ॥ यजुर्वेदब्राह्मणे ॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् । आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥२॥

यो दत्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् । तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥३॥

मनु० [६ । ३८ । ३९]

प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति के अर्थ इष्टि अर्थात् यज्ञ करके उसमें यज्ञोपवीत शिखादि चिह्नों को छोड़ आहवनीयादि पांच अग्नियों को प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पांच प्राणों में आरोपण करके ब्राह्मण ब्रह्मवित् घर से निकल कर संन्यासी हो जावे ॥ १ ॥ २ ॥ जो सब भूत प्राणिमात्र को अभयदान देकर घर से निकल के संन्यासी होता है उस ब्रह्मवादी अर्थात् परमेश्वरप्रकाशित वेदोक्त धर्मादि विद्याओं के उपदेश करनेवाले संन्यासी के लिये प्रकाशमय अर्थात् मुक्ति का आनन्दस्वरूप लोक प्राप्त होता है । (प्रश्न) संन्यासियों का क्या धर्म है ? (उत्तर) धर्म तो पक्षपातरहित न्यायाचरण, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा का पालन, परोपकार, सत्यभाषणादि लक्षण सब आश्रमियों का अर्थात् सब मनुष्यमात्र का एक ही है परन्तु संन्यासी का विशेष धर्म यह है कि:—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् । सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ १ ॥

क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् । सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ २ ॥

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः । आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ३ ॥

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् । विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ४ ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च । अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ५ ॥

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः । समः सर्वेषु भूतेषु न लिंगं धर्मकारणम् ॥ ६ ॥

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् । न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ ७ ॥

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोपि विधिवत्कृताः । व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमन्तपः ॥ ८ ॥

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः । तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥९॥

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम् । प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥१०॥

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः । ध्यानयोगेन संपश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः ॥ ११ ॥

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्म्मभिः । तपसश्चरणैश्चोग्रैस्साधयन्तीह तत्पदम् ॥ १२ ॥

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निस्पृहः । तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ १३ ॥

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः । दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ १४ ॥

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ १५ ॥

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा संगाञ्छनैः शनैः । सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ १६ ॥

मनु० अ० ६ । [४६ । ४८ । ४९ । ५२ । ६० । ६६ । ६७ । ७०-७२ । ७५ । ८० । ८१ । ९१ । ९२]

जब सन्यासी मार्ग में चले तब इधर उधर न देखकर नीचे पृथिवी पर दृष्टि रख के चले। सदा वस्त्र से छान के जल पिये निरन्तर सत्य ही बोले सर्वदा मन से विचार के सत्य का ग्रहण कर असत्य को छोड़ देवे ॥ १ ॥ जब कहीं उपदेश वा संवादादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे अथवा निन्दा करे तो संन्यासी को उचित है कि उस पर आप क्रोध न करे किन्तु सदा उसके कल्याणार्थ उपदेश ही करे और एक मुख का, दो नासिका के, दो आंख के और दो कान के छिद्रों में बिखरी हुई वाणी को किसी कारण से मिथ्या कभी न बोले ॥ २ ॥ अपने आत्मा और परमात्मा में स्थिर अपेक्षारहित मद्य मांसादि वर्जित होकर आत्मा ही के सहाय से सुखार्थी होकर इस संसार में धर्म और विद्या के बढ़ाने में उपदेश के लिये सदा विचरता रहे ॥ ३ ॥ केश, नख, डाढ़ी, मूछ को छेदन करवावे सुन्दर पात्र दण्ड और कुसुम्भ आदि से रंगे हुए वस्त्रों को ग्रहण करके निश्चितात्मा सब भूतों को पीड़ा न देकर सर्वत्र विचरे ॥ ४ ॥ इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक, रागद्वेष को छोड़, सब प्राणियों से निर्वैर वर्त्तकर मोक्ष के लिये सामर्थ्य बढ़ाया करे ॥ ५ ॥ कोई संसार में उसको दूषित वा भूषित करे तो भी जिस किसी आश्रम में वर्त्तता हुआ पुरुष अर्थात् संन्यासी सब प्राणियों में पक्षपातरहित होकर स्वयं धर्मात्मा और अन्यों को धर्मात्मा करने में प्रयत्न किया करे। और यह अपने मन में निश्चित जाने कि दण्ड, कमण्डलु और काषायवस्त्र आदि चिह्न धारण धर्म का कारण नहीं हैं, सब मनुष्यादि प्राणियों के सत्योपदेश और विद्यादान से उन्नति करना संन्यासी का मुख्य कर्म है ॥ ६ ॥ क्योंकि यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल पीस के गदरे जल में डालने से जल का शोधक होता है तदपि विना [उसके] डाले उसके नामकथन वा श्रवणमात्र से जल शुद्ध नहीं हो सकता ॥ ७ ॥ इसलिये ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवित् संन्यासी को उचित है कि ओंकारपूर्वक सप्तव्याहृतियों से विधिपूर्वक प्राणायाम जितनी शक्ति हो उतने करे परन्तु तीन से तो न्यून प्राणायाम कभी न करे यही संन्यासी का परमतप है ॥ ८ ॥ क्योंकि जैसे अग्नि में तपाने और गलाने से धातुओं के मल नष्ट होजाते हैं वैसे ही प्राणों के निग्रह से मन आदि इन्द्रियों के दोष भस्मीभूत होते हैं ॥ ९ ॥ इसलिये संन्यासी लोग नित्यप्रति प्राणायामों से आत्मा, अन्तःकरण और इन्द्रियों के दोष, धारणाओं से पाप, प्रत्याहार से संगदोष, ध्यान से अनीश्वर के गुणों अर्थात् हर्ष शोक और अविद्यादि जीव के दोषों को भस्मीभूत करें ॥ १० ॥ इसी ध्यानयोग से जो अयोगी अविद्वानों को दुःख से जानने योग्य छोटे बड़े पदार्थों में परमात्मा की व्याप्ति उसको और अपने आत्मा और अन्तर्यामी परमेश्वर की गति को देखे ॥ ११ ॥ जब भूतों से निर्वैर इन्द्रियों के विषयों का त्याग, वेदोक्त कर्म और अत्युग्र तपश्चरण से इस संसार में मोक्षपद को पूर्वोक्त संन्यासी ही सिद्ध कर और करा सक्के हैं अन्य कोई नहीं ॥ १२ ॥ जब सन्यासी सब भावों में अर्थात् पदार्थों में निःस्पृह कांक्षारहित और सब बाहर भीतर के व्यवहारों में भाव से पवित्र होता है तभी इस देह में और मरण पाके निरन्तर सुख को प्राप्त होता है ॥ १३ ॥ इसलिये ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासियों को योग्य है कि प्रयत्न से दश लक्षणयुक्त निम्नलिखित धर्म का सेवन करें ॥ १४ ॥ पहिला लक्षण-(धृति) सदा धैर्य रखना। दूसरा-(क्षमा) जोकि निन्दा स्तुति मानापमान हानिलाभ आदि दुःखों में भी सहनशील रहना। तीसरा-(दम) मन को सदा धर्म में प्रवृत्त कर अधर्म से रोक देना अर्थात् अधर्म करने की इच्छा भी न उठे। चौथा-(अस्तेय) चोरीत्याग अर्थात् विना आज्ञा वा छल कपट विश्वासघात वा किसी व्यवहार तथा वेदविरुद्ध उपदेश से परपदार्थ का ग्रहण करना चोरी और उसको छोड़ देना साहुकारी कहाती है। पांचवां-(शौच) रागद्वेष पक्षपात छोड़ के भीतर और जल मृत्तिका मार्जन आदि से बाहर की पवित्रता रखनी। छठा-(इन्द्रियनिग्रह) अधर्माचरणों से रोक के इन्द्रियों को धर्म ही में सदा चलाना। सातवां-(धीः) मादकद्रव्य बुद्धिनाशक अन्य पदार्थ दुष्टों का सङ्ग आलस्य प्रमाद आदि को छोड़ के

लोक में प्रतिष्ठा वा लाभ धन से भोग वा मान्य पुत्रादि के मोह से अलग हो के संन्यासी लोग भिक्षुक होकर रात दिन मोक्ष के साधनों में तत्पर रहते हैं ॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेत् ॥ १ ॥ यजुर्वेदब्राह्मणे ॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् । आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥२॥

यो दत्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् । तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥३॥

मनु० [६ । ३८ । ३९]

प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति के अर्थ इष्टि अर्थात् यज्ञ करके उसमें शिखादि चिह्नों को छोड़ आहवनीयादि पांच अग्नियों को प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान, पांच प्राणों में आरोपण करके ब्राह्मण ब्रह्मवित् घर से निकल कर संन्यासी हो जावे ॥ १ ॥ २ ॥ सब भूत प्राणिमात्र को अभयदान देकर घर से निकल के संन्यासी होता है उस ब्रह्मवादी अर्थात् परमेश्वरप्रकाशित वेदोक्त धर्मादि विद्याओं के उपदेश करनेवाले संन्यासी के लिये प्रकाशमय अर्थात् मुक्ति का आनन्दस्वरूप लोक प्राप्त होता है । (प्रश्न) संन्यासियों का क्या धर्म है ? (उत्तर) धर्म पक्षपातरहित न्यायाचरण, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा का पालन, परोपकार, सत्यभाषणादि लक्षण सब आश्रमियों का अर्थात् सब मनुष्यमात्र का एक ही है परन्तु संन्यासी का विशेष धर्म यह है कि:--

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् । सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ १ ॥

क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् । सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ २ ॥

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः । आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ३ ॥

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् । विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ४ ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च । अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ५ ॥

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः । समः सर्वेषु भूतेषु न लिंगं धर्मकारणम् ॥ ६ ॥

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् । न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ ७ ॥

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोपि विधिवत्कृताः । व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमन्तपः ॥ ८ ॥

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः । तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥९॥

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम् । प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥१०॥

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः । ध्यानयोगेन संपश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः ॥ ११ ॥

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्म्मभिः । तपसश्चरणैश्चोग्रैस्साधयन्तीह तत्पदम् ॥ १२ ॥

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निस्पृहः । तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ १३ ॥

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः । दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ १४ ॥

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ १५ ॥

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा संगाञ्शनैः शनैः । सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ १६ ॥

मनु० अ० ६ । [४६ । ४८ । ४९ । ५२ । ६० । ६६ । ६७ । ७०-७२ । ७५ । ८० । ८१ । ९१ । ९२]

जब संन्यासी मार्ग में चले तब इधर उधर न देखकर नीचे पृथिवी पर दृष्टि रख के चले। सदा वस्त्र से छान के जल पिये निरन्तर सत्य ही बोले सर्वदा मन से विचार के सत्य का ग्रहण कर असत्य को छोड़ देवे ॥ १ ॥ जब कहीं उपदेश वा संवादादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे अथवा निन्दा करे तो संन्यासी को उचित है कि उस पर आप क्रोध न करे किन्तु सदा उसके कल्याणार्थ उपदेश ही करे और एक मुख का, दो नासिका के, दो आंख के और दो कान के छिद्रों में बिखरी हुई वाणी को किसी कारण से मिथ्या कभी न बोले ॥ २ ॥ अपने आत्मा और परमात्मा में स्थिर अपेक्षारहित मद्य मांसादि वर्जित होकर आत्मा ही के सहाय से सुखार्थी होकर इस संसार में धर्म और विद्या के बढ़ाने में उपदेश के लिये सदा विचरता रहे ॥ ३ ॥ केश, नख, डाढ़ी, मूछ को छेदन करवावे सुन्दर पात्र दण्ड और कुसुम्भ आदि से रंगे हुए वस्त्रों को ग्रहण करके निश्चितात्मा सब भूतों को पीड़ा न देकर सर्वत्र विचरे ॥ ४ ॥ इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक, रागद्वेष को छोड़, सब प्राणियों से निर्वैर वर्त्तकर मोक्ष के लिये सामर्थ्य बढ़ाया करे ॥ ५ ॥ कोई संसार में उसको दूषित वा भूषित करे तो भी जिस किसी आश्रम में वर्त्तता हुआ पुरुष अर्थात् संन्यासी सब प्राणियों में पक्षपातरहित होकर स्वयं धर्मात्मा और अन्यों को धर्मात्मा करने में प्रयत्न किया करे। और यह अपने मन में निश्चित जाने कि दण्ड, कमण्डलु और काषायवस्त्र आदि चिह्न धारण धर्म का कारण नहीं हैं, सब मनुष्यादि प्राणियों के सत्योपदेश और विद्यादान से उन्नति करना संन्यासी का मुख्य कर्म है ॥ ६ ॥ क्योंकि यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल पीस के गदरे जल में डालने से जल का शोधक होता है तदपि विना [उसके] डाले उसके नामकथन वा श्रवणमात्र से जल शुद्ध नहीं हो सकता ॥ ७ ॥ इसलिये ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवित् संन्यासी को उचित है कि ओंकारपूर्वक सप्तव्याहृतियों से विधिपूर्वक प्राणायाम जितनी शक्ति हो उतने करे परन्तु तीन से तो न्यून प्राणायाम कभी न करे यही संन्यासी का परमतप है ॥ ८ ॥ क्योंकि जैसे अग्नि में तपाने और गलाने से धातुओं के मल नष्ट होजाते हैं वैसे ही प्राणों के निग्रह से मन आदि इन्द्रियों के दोष भस्मीभूत होते हैं ॥ ९ ॥ इसलिये संन्यासी लोग नित्यप्रति प्राणायामों से आत्मा, अन्तःकरण और इन्द्रियों के दोष, धारणाओं से पाप, प्रत्याहार से संगदोष, ध्यान से अनीश्वर के गुणों अर्थात् हर्ष शोक और अविद्यादि जीव के दोषों को भस्मीभूत करें ॥ १० ॥ इसी ध्यानयोग से जो अयोगी अविद्वानों को दुःख से जानने योग्य छोटे बड़े पदार्थों में परमात्मा की व्याप्ति उसको और अपने आत्मा और अन्तर्यामी परमेश्वर की गति को देखे ॥ ११ ॥ जब भूतों से निर्वैर इन्द्रियों के विषयों का त्याग, वेदोक्त कर्म और अत्युग्र तपश्चरण से इस संसार में मोक्षपद को पूर्वोक्त संन्यासी ही सिद्ध कर और करा सक्ते हैं अन्य कोई नहीं ॥ १२ ॥ जब संन्यासी सब भावों में अर्थात् पदार्थों में निःस्पृह कांक्षारहित और सब बाहर भीतर के व्यवहारों में भाव से पवित्र होता है तभी इस देह में और मरण पाके निरन्तर सुख को प्राप्त होता है ॥ १३ ॥ इसलिये ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासियों को योग्य है कि प्रयत्न से दश लक्षणयुक्त निम्नलिखित धर्म का सेवन करें ॥ १४ ॥ पहिला लक्षण—(धृति) सदा धैर्य रखना। दूसरा—(क्षमा) जोकि निन्दा स्तुति मानापमान हानिलाभ आदि दुःखों में भी सहनशील रहना। तीसरा—(दम) मन को सदा धर्म में प्रवृत्त कर अधर्म से रोक देना अर्थात् अधर्म करने की इच्छा भी न उठे। चौथा—(अस्तेय) चोरीत्याग अर्थात् विना आज्ञा वा छल कपट विश्वासघात वा किसी व्यवहार तथा वेदविरुद्ध उपदेश से परपदार्थ का ग्रहण करना चोरी और उसको छोड़ देना साहूकारी कहाती है। पांचवां—(शौच) रागद्वेष पक्षपात छोड़ के भीतर और जल मृत्तिका मार्जन आदि से बाहर की पवित्रता रखनी। छठा—(इन्द्रियनिग्रह) अधर्माचरणों से रोक के इन्द्रियों को धर्म ही में सदा चलाना। सातवां—(धीः) मादकद्रव्य बुद्धिनाशक अन्य पदार्थ दुष्टों का सङ्ग आलस्य प्रमाद आदि को छोड़ के

श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन सत्पुरुषों का सङ्ग योगाभ्यास से बुद्धि को बढ़ाना । आठवां—(विद्या) पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त यथार्थज्ञान और उनसे यथायोग्य उपकार लेना सत्य जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा मन में वैसा वाणी में, जैसा वाणी में वैसा कर्म में वर्त्तना विद्या, इससे विपरीत अविद्या है। नववां—(सत्य) जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसा ही समझना, वैसा ही बोलना और वैसा ही करना भी । तथा दशवां—(अक्रोध) क्रोधादि दोषों को छोड़के शान्त्यादि गुणों को ग्रहण करना धर्म का लक्षण है । इस दश लक्षणयुक्त पक्षपातरहित न्यायाचरण धर्म का सेवन चारों आश्रमवाले करें और वेदोक्त धर्म ही में आप चलना और दूसरों को समझा कर चलाना संन्यासियों का विशेष धर्म है ॥१५॥ इसी प्रकार से धीरे २ सब संगदोषों को छोड़ हर्ष शोकादि सब द्वन्द्वों से विमुक्त होकर संन्यासी ही में अवस्थित होता है संन्यासियों का मुख्य कर्म यही है कि सब गृहस्थादि आश्रमों को सब प्रकार के व्यवहारों का सत्य निश्चय करा अधर्म व्यवहारों से छुड़ा सब संशयों का छेदन कर सत्य धर्मयुक्त व्यवहारों में प्रवृत्त कराया करें ॥ १६ ॥

(प्रश्न) संन्यासग्रहण करना ब्राह्मण ही का धर्म है वा क्षत्रियादि का भी ? (उत्तर) ब्राह्मण ही को अधिकार है क्योंकि जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान् धार्म्मिक परोपकारप्रिय मनुष्य है उसी का ब्राह्मण नाम है विना पूर्ण विद्या के धर्म, परमेश्वर की निष्ठा और वैराग्य के संन्यास ग्रहण करने में संसार का विशेष उपकार नहीं हो सकता इसीलिये लोकश्रुति है कि ब्राह्मण को संन्यास का अधिकार है अन्य को नहीं यह मनु का प्रमाण भी है:—

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः । पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राजधर्मान् निबोधत॥
मनु० ६ । ९७॥

यह मनुजी महाराज कहते हैं कि हे ऋषियो ! यह चार प्रकार अर्थात् ब्रह्मचर्य्य, [गृहस्थ], वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम करना ब्राह्मण का धर्म है यहां वर्तमान में पुण्यस्वरूप और शरीर छोड़े पश्चात् मुक्तिरूप अक्षय आनन्द का देनेवाला संन्यास धर्म है इसके आगे राजाओं का धर्म मुझ से सुनो । इससे यह सिद्ध हुआ कि संन्यासग्रहण का अधिकार मुख्य करके ब्राह्मण का है और क्षत्रियादि का ब्रह्मचर्याश्रम है (प्रश्न) संन्यासग्रहण की आवश्यकता क्या है ? (उत्तर) जैसे शरीर में शिर की आवश्यकता वैसे ही आश्रमों में संन्यासाश्रम की आवश्यकता है क्योंकि इस के विना विद्या धर्म कभी नहीं बढ़ सकता और दूसरे आश्रमों को विद्याग्रहण गृहकृत्य और तपश्चर्यादि का सम्बन्ध होने से अवकाश बहुत कम मिलता है । पक्षपात छोड़ कर वर्त्तना दूसरे आश्रमों को दुष्कर है जैसा संन्यासी सर्वतोमुक्त होकर जगत् का उपकार करता है वैसा अन्य आश्रमी नहीं कर सकता क्योंकि संन्यासी को सत्यविद्या से पदार्थों के विज्ञान की उन्नति का जितना अवकाश मिलता है उतना अन्य आश्रमी को नहीं मिल सकता । परन्तु जो ब्रह्मचर्य्य से संन्यासी होकर जगत् को सत्य शिक्षा करके जितनी उन्नति कर सकता है, उतनी गृहस्थ वा वानप्रस्थ आश्रम करके संन्यासाश्रमी नहीं कर सकता (प्रश्न) संन्यास ग्रहण करना ईश्वर के अभिप्राय से विरुद्ध है क्योंकि ईश्वर का अभिप्राय मनुष्यों की बढती करने में है जब गृहाश्रम नहीं करेगा तो उससे सन्तान ही न होंगे । जब संन्यासाश्रम ही मुख्य है और सब मनुष्य करें तो मनुष्यों का मूलच्छेदन हो जायगा (उत्तर) अच्छा, विवाह करके भी बहुतों के सन्तान नहीं होते अथवा होकर शीघ्र नष्ट हो जाते हैं फिर वह भी ईश्वर के अभिप्राय से विरुद्ध करने वाला हुआ जो तुम कहो कि "यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः" यह किसी कवि का वचन है, अर्थ—जो यत्न करने से भी कार्य्य सिद्ध न हो तो इसमें क्या दोष ? अर्थात् कोई भी नहीं । तो हम तुम से

छुते हैं कि गृहाश्रम से बहुत सन्तान होकर आपस में विरुद्धाचरण कर लड़ मरें तो हानि कितनी बड़ी होती है, समझ के विरोध से लड़ाई बहुत होती है, जब संन्यासी एक वेदोक्तधर्म के उपदेश से परस्पर प्रीति उत्पन्न करावेगा तो लाखों मनुष्यों को बचा देगा सहस्रों गृहस्थ के समान मनुष्यों की बढ़ती करेगा और सब मनुष्य संन्यासग्रहण कर ही नहीं सकते क्योंकि सब की विषयासक्ति कभी नही छूट सकेगी, जो २ संन्यासियों के उपदेश से धार्मिक मनुष्य होंगे वे सब जानो संन्यासी के पुत्र तुल्य हैं (प्रश्न) संन्यासी लोग कहते हैं कि हमको कुछ कर्त्तव्य नहीं अन्न वस्त्र लेकर आनन्द में रहना, अविद्यारूप संसार से माथापच्ची क्यों करना? अपने को ब्रह्म मानकर सन्तुष्ट रहना, कोई आकर पूछे तो उसको भी वैसा ही उपदेश करना कि तू भी ब्रह्म है तुझ को पाप पुण्य नही लगता क्योंकि शीतोष्ण शरीर, क्षुधा तृषा प्राण, और सुख दुःख मन का धर्म है। जगत् मिथ्या और जगत् के व्यवहार भी सब कल्पित अर्थात् झूंठे हैं इसलिये इस में फंसना बुद्धिमानों का काम नहीं। जो कुछ पाप पुण्य होता है वह देह और इन्द्रियों का धर्म है आत्मा का नहीं, इत्यादि उपदेश करते हैं और आपने कुछ विलक्षण संन्यास का धर्म कहा है अब हम किसकी बात सच्ची और किसकी झूंठी मानें? (उत्तर) क्या उनको अच्छे कर्म भी कर्त्तव्य नहीं? देखो "वैदिकैश्चैव कर्मभिः" मनुजी ने वैदिक कर्म, जो धर्मयुक्त सत्य कर्म हैं, संन्यासियों को भी अवश्य करना लिखा है। क्या भोजन छादनादि कर्म वे छोड़ सकेंगे? जो ये कर्म नहीं छूट सकते तो उत्तम कर्म छोड़ने से वे पतित और पापभागी नहीं होंगे? जब गृहस्थों से अन्न वस्त्रादि लेते हैं और उनका प्रत्युपकार नहीं करते तो क्या वे महापापी नहीं होंगे? जैसे आंख से देखना कान से सुनना न हो तो आंख और कान का होना व्यर्थ है वैसे ही जो संन्यासी सत्योपदेश और वेदादि सत्यशास्त्रों का विचार, प्रचार नहीं करते तो वे भी जगत् में व्यर्थ भाररूप हैं। और जो अविद्यारूप संसार से माथापच्ची क्यों करना आदि लिखते और कहते हैं वैसे उपदेश करनेवाले ही मिथ्यारूप और पाप के बढ़ानेहारे पापी हैं। जो कुछ शरीरादि से कर्म्म किया जाता है वह सब आत्मा ही का और उसके फल का भोगने वाला भी आत्मा है। जो जीव को ब्रह्म बतलाते हैं वे अविद्या निद्रा में सोते हैं। क्योंकि जीव अल्प, अल्पज्ञ और ब्रह्म सर्वव्यापक सर्वज्ञ है ब्रह्म नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभावयुक्त है और जीव कभी बद्ध कभी मुक्त रहता है। ब्रह्म को सर्वव्यापक सर्वज्ञ होने से भ्रम वा अविद्या कभी नहीं हो सकती और जीव को कभी विद्या और कभी अविद्या होती है ब्रह्म जन्ममरण दुःख को कभी नही प्राप्त होता और जीव प्राप्त होता है इसलिये वह उनका उपदेश मिथ्या है (प्रश्न) संन्यासी सर्व कर्म्मविनाशी और अग्नि तथा धातु को स्पर्श नही करते यह बात सच्ची है वा नहीं (उत्तर) नहीं "सम्यङ् नित्यमास्ते यस्मिन् यद्वा सम्यङ् न्यस्यन्ति दुःखानि कर्माणि येन स संन्यासः स प्रशस्तो विद्यते यस्य स संन्यासी" जो ब्रह्म और जिससे दुष्ट कर्मों का त्याग किया जाय वह उत्तम स्वभाव जिस में हो वह संन्यासी कहाता है इसमें सुकर्म का कर्त्ता और दुष्ट कर्मों का नाश करनेवाला संन्यासी कहाता है (प्रश्न) अध्यापन और उपदेश गृहस्थ किया करते हैं पुनः संन्यासी का क्या प्रयोजन है? (उत्तर) सत्योपदेश सब आश्रमी करें और सुने परन्तु जितना अवकाश और निष्पक्षपातता संन्यासी को होती है उतनी गृहस्थों को नहीं। हां, जो ब्राह्मण हैं उनका यही काम है कि पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को सत्योपदेश और पढ़ाया करे। जितना भ्रमण का अवकाश संन्यासी को मिलता है उतना गृहस्थ ब्राह्मणादिकों को कभी नही मिल सक्ता। जब ब्राह्मण वेदविरुद्ध आचरण करे तब उनका नियन्ता संन्यासी होता है। इसलिये संन्यास का होना उचित है। (प्रश्न) "एकरात्रिं वसेद् ग्रामे" इत्यादि वचनों से संन्यासी को एकत्र एकरात्रिमात्र रहना अधिक निवास न करना चाहिये। (उत्तर) यह बात थोड़े से अंश में तो अच्छी है कि एकत्रवास करने से

का उपकार अधिक नहीं हो सकता और स्थानान्तर का भी अभिमान होता है राग द्वेष भी अधिक होता है परन्तु जो विशेष उपकार एकत्र रहने से होता हो तो रहे जैसे जनक राजा के यहां चार चा महीने तक पञ्चशिखादि और अन्य संन्यासी कितने ही वर्षों तक निवास करते थे। और "एकत्र रहना" यह बात आज कल के पाखण्डी सम्प्रदायियों ने बनाई है। क्योंकि जो संन्यासी एकत्र अधिक रहेगा तो हमारा पाखण्ड खण्डित होकर अधिक न बढ़ सकेगा (प्रश्न):—

यतीनां काञ्चनं दद्यात्ताम्बूलं ब्रह्मचारिणाम्। चौराणामभयं दद्यात्स नरो नरकं व्रजेत्।

इत्यादि वचनों का अभिप्राय यह है कि संन्यासियों को जो सुवर्ण दान दे तो दाता नरक प्राप्त होवे (उत्तर) यह बात भी वर्णाश्रमविरोधी सम्प्रदायी और स्वार्थसिन्धुवाले पौराणिकों की हुई है, क्योंकि संन्यासियों को धन मिलेगा तो वे हमारा खण्डन बहुत कर सकेंगे और हमारी होगी तथा वे हमारे आधीन भी न रहेंगे और जब भिक्षादि व्यवहार हमारे आधीन रहेगा तो डरते जब मूर्ख और स्वार्थियों को दान देने में अच्छा समझते हैं तो विद्वान् और परोपकारी संन्यासियों देने में कुछ भी दोष नहीं हो सकता देखो मनु० —

विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत् ॥

नाना प्रकार के रत्न सुवर्णादि धन (विविक्त) अर्थात् संन्यासियों को देवे और वह श्लोक भी अनर्थक है क्योंकि संन्यासी को सुवर्ण देने से यजमान नरक को जावे तो चांदी, मोती, हीरा आदि देने से स्वर्ग को जायगा (प्रश्न) यह पण्डितजी इसका पाठ बोलते भूल गये यह ऐसा है कि "यति हस्ते धनं दद्यात्" अर्थात् जो संन्यासियों के हाथ में धन देता है वह नरक में जाता है (उत्तर) यह भी वचन अविद्वान् ने कपोलकल्पना से रचा है। क्योंकि जो हाथ मे धन देने से दाता नरक को जाय तो पग पर धरने वा गठरी बांधकर देने से स्वर्ग को जायगा इसलिये ऐसी कल्पना मानने योग्य नहीं। हां, यह बात तो है कि जो संन्यासी योगक्षेम से अधिक रक्खेगा तो चोरादि से पीड़ित और मोहित भी हो जायगा परन्तु जो विद्वान् है वह अयुक्त व्यवहार कभी न करेगा, न मोह में फँसेगा क्योंकि वह प्रथम गृहाश्रम में अथवा ब्रह्मचर्य में सब भोग कर वा सब देख चुका है और जो ब्रह्मचर्य से होता है वह पूर्ण वैराग्ययुक्त होने से कभी कहीं नहीं फँसता (प्रश्न) लोग कहते हैं कि श्राद्ध मे संन्यासी आवे या जिमावे तो उसके पितर भाग जाये और नरक में गिरें (उत्तर) प्रथम तो मरे हुए पितरों का आना और किया हुआ श्राद्ध मरे हुए पितरों को पहुंचाना ही असम्भव वेद और युक्तिविरुद्ध होने से मिथ्या है। और जब आते ही नहीं तो भाग कौन जायेंगे जब अपने पाप पुण्य के अनुसार ईश्वर की व्यवस्था से मरण के पश्चात् जीव जन्म लेते हैं तो उनका आना कैसे हो सकता है? इसलिये यह भी बात पेटार्थी पुराणी और वैरागियों की मिथ्या कल्पी हुई है। यह तो ठीक है कि जहां संन्यासी जायेंगे वहां यह मृतकश्राद्ध करना वेदादि शास्त्रों से विरुद्ध होने से पाखण्ड दूर भाग जायेगा (प्रश्न) जो ब्रह्मचर्य से संन्यास लेवेगा उसका निर्वाह कठिनता से होगा और काम का रोकना भी अति कठिन है इसलिये गृहाश्रम वानप्रस्थ होकर जब वृद्ध होजाय तभी संन्यास लेना अच्छा है (उत्तर) जो निर्वाह न कर सके इन्द्रियों को न रोक सके वह ब्रह्मचर्य से संन्यास न लेवे, परन्तु जो रोक सके वह क्यों न लेवे? जिस पुरुष ने विषय के दोष और वीर्यसंरक्षण के गुण जाने हैं वह विषयासक्त कभी नहीं होता और उनका वीर्य्य विचाराग्नि का इन्धनवत् है अर्थात् उसी में व्यय होजाता है। जैसे वैद्य और औषधों की आवश्यक्ता रोगी के लिये होती है वैसी नीरोगी के लिये नहीं। इसी प्रकार जिस पुरुष वा स्त्री

को विद्या धर्मवृद्धि और सब संसार का उपकार करना ही प्रयोजन हो वह विवाह न करे। जैसे पंचशिखादि पुरुष और गार्गी आदि स्त्रियां हुई थीं इसलिये संन्यासी का होना अधिकारियों को उचित है और जो अनधिकारी संन्यासग्रहण करेगा तो आप डूबेगा औरों को भी डुबावेगा जैसे "सम्राट्" चक्रवर्ती राजा होता है वैसे "परिव्राट्" संन्यासी होता है प्रत्युत राजा अपने देश में वा स्वसम्बन्धियों में सत्कार पाता है और संन्यासी सर्वत्र पूजित होता है॥

विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन। स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते॥ १॥

[यह] चाणक्य नीतिशास्त्र का श्लोक है—विद्वान् और राजा की कभी तुल्यता नहीं हो सकती क्योंकि राजा अपने राज्य ही में मान और सत्कार पाता है और विद्वान् सर्वत्र मान और प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। इसलिये विद्या पढ़ने, सुशिक्षा लेने और बलवान् होने आदि के लिये ब्रह्मचर्य्य, सब प्रकार के उत्तम व्यवहार सिद्ध करने के अर्थ गृहस्थ, विचार ध्यान और विज्ञान बढ़ाने तपश्चर्या करने के लिये वानप्रस्थ और वेदादि सत्यशास्त्रों का प्रचार, धर्म व्यवहार का ग्रहण और दुष्ट व्यवहार के त्याग, सत्योपदेश और सब को निःसंदेह करने आदि के लिये संन्यासाश्रम है। परन्तु जो इस संन्यास के मुख्य धर्म सत्योपदेशादि नहीं करते वे पतित और नरकगामी हैं। इससे संन्यासियों को उचित है कि सत्योपदेश शङ्कासमाधान, वेदादि सत्यशास्त्रों का अध्यापन और वेदोक्त धर्म की वृद्धि प्रयत्न से करके सब संसार की उन्नति किया करें (प्रश्न) जो संन्यासी से अन्य साधु, वैरागी, गुसाईं, खाखी आदि हैं वे भी संन्यासाश्रम मे गिने जायेंगे या नहीं? (उत्तर) नहीं क्योंकि उनमें संन्यास का एक भी लक्षण नहीं, वे वेदविरुद्ध मार्ग में प्रवृत्त होकर वेद से [अधिक] अपने संप्रदाय के आचार्य्यों के वचन मानते और अपने ही मत की प्रशंसा करते मिथ्या प्रपंच में फँसकर अपने स्वार्थ के लिये, दूसरों को अपने २ मत में फँसाते हैं सुधार करना तो दूर रहा उसके बदले में संसार को बहका कर अधोगति को प्राप्त कराते और अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं इसलिये इनको संन्यासाश्रम मे नहीं गिन सकते किन्तु ये स्वार्थाश्रमी तो पक्के हैं! इसमें कुछ संदेह नहीं। जो स्वयं धर्म मे चलकर सब संसार को चलाते हैं जिससे आप और सब संसार को इस लोक अर्थात् वर्त्तमान जन्म में परलोक अर्थात् दूसरे जन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख का भोग करते कराते हैं वे ही धर्मात्मा जन संन्यासी और महात्मा हैं। यह संक्षेप से संन्यासाश्रम की शिक्षा लिखी। अब इसके आगे राजप्रजाधर्म विषय लिखा जायगा॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते वानप्रस्थसंन्यासाश्रमविषये
पञ्चमः समुल्लासः सम्पूर्णः॥ ५॥

अथ षष्ठसमुल्लासारम्भः

अथ राजधर्मान् व्याख्यास्यामः

राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः । संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥ १ ॥
ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि । सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥
मनु० [७ ॥ १ । २]

अब मनुजी महाराज ऋषियों से कहते हैं कि चारो वर्ण और चारों आश्रमों के व्यवहार कथन के पश्चात् राजधर्मों को कहेंगे कि किस प्रकार का राजा होना चाहिये और जैसे इसके होने का सम्भव तथा जैसे इसको परमसिद्धि प्राप्त होवे उसको सब प्रकार कहते हैं ॥ १ ॥ कि जैसा परम विद्वान् ब्राह्मण होता है वैसा विद्वान् सुशिक्षित होकर क्षत्रिय को योग्य है कि इस सब राज्य की रक्षा न्याय से यथावत् करे ॥ २ ॥ उसका प्रकार यह है—

त्रीणि॑ राजा॑ना वि॒दथे॑ पु॒रूणि॒ परि॒ विश्वा॑नि भूषथः॒ सदां॑सि ॥ ऋ० ॥ मं० ३ । सू० ३८ । मं० ६ ॥

ईश्वर उपदेश करता है कि (राजाना) राजा और प्रजा के पुरुष मिलके (विदथे) सुखप्राप्ति और विज्ञानवृद्धिकारक राजा प्रजा के सम्बन्धरूप व्यवहार मे (त्रीणि सदांसि) तीन सभा अर्थात् विद्यार्य्यसभा, धर्मार्य्यसभा, राजार्य्यसभा नियत करके (पुरूणि) बहुत प्रकार के (विश्वानि) समग्र प्रजा सम्बन्धी मनुष्यादि प्राणियों को (परिभूषथः) सब ओर से विद्या स्वातन्त्र्य धर्म सुशिक्षा और धनादि से अलंकृत करें ॥

तं स॒भा च॒ समि॑तिश्च॒ सेना॑ च॒ ॥ १ ॥ अथर्व० कां० १५ । अनु० २ । व० ९ । मं० २ ॥
सभ्य॑ स॒भां मे॑ पाहि॒ ये च॒ सभ्याः॑ स॒भास॑दः ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १९ । अनु० ७ । व० ५५ । मं० ६ ॥

(तम्) उस राजधर्म को (सभा च) तीनों सभा (समितिश्च) संग्रामादि की व्यवस्था और (सेना च) सेना मिलकर पालन करें ॥ १ ॥ सभासद् और राजा को योग्य है कि राजा सब सभासदों को आज्ञा देवे कि हे (सभ्य) सभा के योग्य मुख्य सभासद् तू (मे) मेरी (सभाम्) सभा की धर्मयुक्त व्यवस्था का (पाहि) पालन कर और (ये च) जो (सभ्याः) सभा के योग्य (सभासदः) सभासद् हैं वे भी सभा की व्यवस्था का पालन किया करें ॥ २ ॥ इसका अभिप्राय यह है कि एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिये किन्तु राजा जो सभापति तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन और प्रजा राजसभा के आधीन रहे यदि ऐसा न करोगे तो:—

राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः । विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशुं मन्यत इति ॥ शत० कां० १३ । प्र० २ । ब्रा० ३ । [कं० ७ । ८]

जो प्रजा से स्वतन्त्र स्वाधीन राजवर्ग रहे तो (राष्ट्रमेव विश्याहन्ति) राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करें जिसलिये अकेला राजा स्वाधीन वा उन्मत्त होके (राष्ट्री विशं घातुकः) प्रजा का नाशक होता है अर्थात् (विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति) वह राजा प्रजा को खाये जाता (अत्यन्त पीड़ित करता) है इसलिये किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिये जैसे सिंह वा मांसाहारी हृष्ट पुष्ट पशु को मारकर खालेते हैं वैसे (राष्ट्री विशमत्ति) स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है अर्थात् किसी को अपने से अधिक न होने देता श्रीमान् को लूट खूंट अन्याय से दण्ड लेके अपना प्रयोजन पूरा करेगा, इसलिये:—

इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै। चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ अथर्व० कां० ६ । अनु० १० । व० ९८ । मं० १ ॥

हे मनुष्यो ! जो (इह) इस मनुष्य के समुदाय में (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य का कर्त्ता शत्रुओं को (जयाति) जीत सके (न पराजयातै) जो शत्रुओं से पराजित न हो (राजसु) राजाओं में (अधिराजः) सर्वोपरि विराजमान (राजयातै) प्रकाशमान हो (चर्कृत्यः) सभापति होने को अत्यन्त योग्य (ईड्यः) प्रशंसनीय गुण कर्म स्वभावयुक्त (वन्द्यः) सत्करणीय (चोपसद्यः) समीप जाने और शरण लेने योग्य (नमस्यः) सब का माननीय (भव) होवे उसी को सभापति राजा करे।

इमन्देवा असपत्नꣳसुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय ॥ यजु० अ० ९ । मं० ४० ॥

हे (देवाः) विद्वानो राजप्रजाजनो तुम (इमम्) इस प्रकार के पुरुष को (महते क्षत्राय) बड़े चक्रवर्त्ति राज्य (महते ज्यैष्ठ्याय) सब से बड़े होने (महते जानराज्याय) बड़े २ विद्वानों से युक्त राज्य पालने और (इन्द्रस्येन्द्रियाय) परम ऐश्वर्ययुक्त राज्य और धन के पालने के लिये (असपत्नꣳसुवध्वम्) सम्मति करके सर्वत्र पक्षपातरहित पूर्ण विद्या विनययुक्त सब के मित्र सभापति राजा को सर्वाधीश मान के सब भूगोल शत्रुरहित करो और—

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे। युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥ ऋ० ॥ मं० १ । सू० ३९ । मं० २ ॥

ईश्वर उपदेश करता है कि हे राजपुरुषो ! (वः) तुम्हारे (आयुधा) आग्नेयादि अस्त्र और शतघ्नी अर्थात् तोप भुशुण्डी अर्थात् बन्दूक धनुष बाण तलवार आदि शस्त्र शत्रुओं के (पराणुदे) पराजय करने (उत प्रतिष्कभे) और रोकने के लिये (वीळू) प्रशंसित और (स्थिरा) दृढ़ (सन्तु) हों (युष्माकम्) और तुम्हारी (तविषी) सेना (पनीयसी) प्रशंसनीय (अस्तु) होवे कि जिससे तुम सदा विजयी होओ परन्तु (मा मर्त्यस्य मायिनः) जो निन्दित अन्यायरूप काम करता है उसके लिये पूर्व वस्तु मत हो अर्थात् जबतक मनुष्य धार्मिक रहते हैं तभी तक राज्य बढ़ता रहता है और जब दुष्टाचारी होते हैं तब नष्ट भ्रष्ट होजाता है। महाविद्वानो को विद्यासभाऽधिकारी, धार्मिक विद्वानों को धर्मसभाऽधिकारी, प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को राजसभा के सभासद् और जो उन सब में सर्वोत्तम गुण कर्म स्वभावयुक्त महान् पुरुष हो उसको राजसभा का पतिरूप मान के सब प्रकार से उन्नति करे। तीनो सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम और नियमों के आधीन सब लोग वर्तें सब के हितकारक कामों में सम्मति करें सर्वहित करने के लिये परतन्त्र और धर्मयुक्त